# एक गरीब की विनम्र चुनौती

गोपाल राम

# एक गरीब की विनम्र चुनौती

गोपाल राम

© सर्वजन सुलभ, 2017
अपने नज़रिए से इसे इस्तेमाल करने, पुनर्प्रकाशित करने के लिए आप स्वतंत्र हैं। हमें सूचना देंगे तो अच्छा लगेगा।

प्रकाशक

nf{k.k ,f'k;kbl gfjr Lojkt lokn
(साउथ एशियन डॉयलॉग्स ऑन इकोलोजिकल डेमोक्रेसी)
सिएमनपॅू फाउंडेशन, फिनलैंड, के वित्तीय सहयोग से
बी ई – 14 ए, डी.डी.ए. फ्लैट्स,
मुनिरका, नई दिल्ली – 110067
ईमेल : networkscommunication@gmail.com

DAANISH BOOKS
दानिश बुक्स्
संपादकीय कार्यालयः 13 सी, स्काईलार्क अपार्टमेंट्स,
गाजीपुर, दिल्ली– 110096
www.daanishbooks.com

ISBN : 978-93-81144-62-6

Published by:

South Asian Dialogues on Ecological Democracy (SADED)
(With financial support from Siemenpuu Foundation, Finland)
B E - 14 A, D.D.A. Flats,
Munirka, New Delhi- 110067
Phone: 011- 26101580
Email: networkscommunication@gmail.com

**Printed by Multiplexus (India)**
multiplexusindia@gmail.com

# fo"k; lph


लेखक की ओर से 06

एक गरीब की विनम्र चुनौती –भाग एक 09

एक गरीब की विनम्र चुनौती –भाग दो 21

एक गरीब की विनम्र चुनौती –भाग तीन 30

एक गरीब की विनम्र चुनौती –भाग चार 44

बहुत बड़ा है गांधी का ‘झाडू‘ 64

नई संस्कृति की राह 78

पुस्तक समीक्षा (रवीन्द्र कुमार पाठक द्वारा) 86

‘सिद्ध से अब तक : एक अनवरत सफर 90

# y[kd dh vkj l

मैं पेशेवर लेखक नहीं हूँ। खुद को शोधकर्ता कहना मुझे स्वयं की प्रवृत्ति के ज्यादा नजदीक लगता है। वजह यह है कि मैं किसी विषय या परिस्थिति पर किसी निश्चित राय तक नहीं पहुँच सका हूँ। मैं लगातार समाजकर्म में रहते हुए एक शोधार्थी की तरह समाज के साथ खुद को समझने के यत्न में लगा हूँ। समाज जीवन व समाज कर्म मनुष्य के जीवन में तभी शुरू हो जाता है जब वह किसी परिवार के साथ जुड़ता है, पैदा होता है। यहाँ से समाज की हर अच्छी–बुरी चीज से परिचय होना शुरू हो जाता है। साथ ही अपने लिए एक पहचान का दायरा भी निर्मित होता है, फिर वह पहचान, भावनाओं पर आधारित हो या संपत्ति पर। सकारात्मक हो या नकारात्मक, लेकिन हर किसी को यह पहचान जन्मजात प्राप्त हो ही जाती है। फलानी जाति का, फलाने धर्म का, क्षेत्र का, छोटा–बड़ा, अमीर–गरीब इत्यादि। ये पहचानें हमें अपने पारिवारिक–सामाजिक दायरे से ही मिलती हैं। इस पर हमारा वश नहीं होता। फर्क सिर्फ इतना ही है कि बहुसंख्य लोग परिस्थितिवश इन्हीं पहचानों के आस–पास घूमकर अपना जीवन–चक्र पूरा करते हैं।

लेकिन कुछ लोग जो इन पहचानों के दायरे के बाहर भी दृष्टि घुमाने की कोशिश करते हैं वे नई पहचानें गढ़ते हैं। उन्हीं को परिवर्तनकारी कहा जाता है। गांधी, आंबेडकर इत्यादि नाम इन्हीं नई पहचानों को गढ़ने की कोशिश करने वालों में आते हैं। यह भी एक तथ्य है कि हम जिस तरह की खोजों की तरफ अग्रसर होते हैं वही हमारी नई पहचान के रूप में सामने आती है। कुल मिलाकर बात, संकीर्ण दायरों से बाहर आकर अपने घेरों को, दायरों को बड़ा करने की है। दायरा जितना बड़ा होता है, उतना ही हमारी पहचान का घेरा बढ़ता है और हम स्वयं में अपनी असलियत को पहचानने व समाज में ज्यादा जिम्मेदार व मानवीय रूप में व्यक्त हो पाते हैं। पहचानों के बने–बनाये घेरों के बाहर भी एक व्यापक दुनिया है; प्रस्तुत अनुभव आधारित लेखों में उसी तरफ ध्यान इंगित करने की कोशिश की गयी है। इसलिए इस लेखन में पेशे की विशेषज्ञता देखने के बजाय, एक ऐसे व्यक्ति की छटपटाहट को देखा जा सकता है जो बने–बनाये घेरों की असलियत को समझने का प्रयास तो कर ही रहा है, साथ ही एक व्यापक घेरे की तरफ बढ़ने की संभव कोशिश के रास्ते भी तलाश रहा है।

पिछले 15–16 वर्षों के सार्वजनिक जीवन के समयन्तराल में; मैं भी अपनी पारिवारिक सामाजिक पहचान को तलाशता रहा। ये देखने की कोशिश की कि इन पहचानों का आधार क्या है और व्यापक समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ रहा है। इसी कड़ी में समाज

के हर तबके के लोगों से मिलना, बातचीत करने के साथ–साथ सम्मान–अपमान की स्थितियों का अहसास हुआ। खुद को परिवर्तनकारी मान लेने का सूक्ष्म अहंकार भी स्वयं को घेरे रहा कि, मुझे तो समाज में परिवर्तन करना है। इसी अहंकारवश कुछ कोशिशें भी होती रहीं लेकिन वहीं अंतस में यह प्रेरणा बनी रही कि इस सबसे बाहर भी एक दुनिया है, जहां हुए बिना नई तरह की दुनिया की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए तमाम दबावों, सामाजिक वर्जनाओं, स्तुति–निन्दा के बीच इससे निकलने की एक आन्तरिक कोशिश जारी रही और समाज के उन तमाम आयामों पर ध्यान जाना शुरू हुआ, जहां से हमारे जीवन की सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक पहचानें तय होती हैं। और कई तरह की संकीर्णतायें–घेरेबन्दियां जन्म लेती हैं। इसी यात्रा में स्वयंभू परिवर्तनकारी होने का आभास भी जाता रहा और एक नागरिक की तरह, शोधार्थी के रूप में चीजों को विनम्रता से देखने का प्रयास शुरू हुआ।

संयोगवश इसी दौरान सामाजवादी मंच 'परिस्थितिकीय लोकतंत्र पर दक्षिण एशियाई संवाद' से जुड़ना हुआ और समाज के प्रति नई दृष्टि का एक और आयाम खुला व अपने पिछले अध्ययन–अनुभव को और प्रखर करने व परिवर्तन की तमाम प्रक्रियाओं को एक बड़े फलक में देखने का अवसर मिला। जहां अपनी अस्मिताओं के संघर्षों को बड़े कैनवस पर देखा जा सके। इसलिए प्रस्तुत लेख अपनी पुरानी अस्मिताओं–पहचानों के घेरे को समझने व इन घेरों से बाहर निकलकर अस्मिता–पहचान के व्यापक घेरों के निर्माण की दिशा में पहल करने की तरफ इंगित करते एक सामाजिक शोधार्थी की अनगढ़ कोशिश भर है। इनमें जीवन की विशेषज्ञता भले ही ना झलके, लेकिन समाज व राजनीतिक जीवन के अपने अनुभवों का एक अक्रमबद्ध सिलसिला जरूर नजर आयेगा। कुल मिलाकर समाज कर्म करते हुए जो अनुभव हुआ, उसका लेखा–जोखा है। इसलिए इन लेखों को मेरा कहने में भी एक झिझक महसूस होती है क्योंकि इसमें मेरे से ज्यादा समाज के साथ जिये अनुभवों का हिस्सा है। इस अर्थ में, मैं उन अनुभवों को व्यक्त करने का मात्र माध्यम हूँ। जो समाज में घट रही प्रक्रियाओं का हिस्सा है। इसलिए लेखक नहीं बल्कि अभिव्यक्तकर्ता मात्र हूँ। समाज में जीता हूं इसलिए भोक्ता होने की स्थिति से बच नहीं सकता। एक ऐसा अभिव्यक्तकर्ता व भोक्ता जो समाजकर्म करते हुए समाज, अर्थ, धर्म व राजनीति के क्षेत्र में समसामयिक परिस्थितियों से जूझते हुए दीर्घकालीन समाधान ढूँढ रहा है। यही इन लेखों की बातचीत का केन्द्र बिन्दु है।

आज सब तरफ 'विकास' की चर्चा है। सब विकसित होना चाहते हैं हमारी नई सरकार भी 'विकास' के इस जुमले से खासी प्रभावित है। अब सवाल उठता है कि विकास किसका होना है तो अन्ततः बात 'गरीब' पर जाकर टिक जाती है कि हमें 'गरीबी' से मुक्ति पानी है क्योंकि विकसित होना है। गरीबी से मुक्ति का नारा आकर्षक है, इसने मुझे भी आकर्षित किया है, लेकिन इस सवाल के साथ कि गरीबी है क्या? कौन है गरीब? कैसे होगी गरीबी से मुक्ति? इन सवालों ने गरीबी की तह तक पहुंचाया व गरीबी के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, मानसिक व प्रशासनिक आयामों की तरफ ध्यान

गया। जिससे गरीबी की एक स्पष्ट तस्वीर उभरकर सामने आयी। इसमें अपने गरीबी के अनुभवों को भी साझा कर, विकसित होने का सपना देख रहे समाज के लिए, अपने समाज में गरीबी को देखने हेतु एक दृष्टिकोण के रूप में 'एक गरीब की विनम्र चुनौती' शीर्षक से चार भागों में 'गरीबी' व 'गरीब' को समझने की कोशिश की है। ताकि हम गरीबी, गरीब व गरीबी की मानसिकता को व्यापक आयामों में समझ पायें व गरीबी मुक्ति के संभव समाधानों की तरफ बढ़ पायें।

पांचवें भाग में 'बहुत बड़ा है गांधी का झाडू' में, समसामयिक घटनाओं में गांधी के समाज परिवर्तन के व्यापक फलक को रखने का प्रयास किया गया है। जहां 'झाडू' किसी कर्म का साधन भर न होकर एक व्यापक दृष्टि का नाम भी है। जो सफाई–स्वच्छता के अभियानों में कर्मकाण्डीय रूप में कुछ समय के लिए काम तो आ सकता है पर सफाई–स्वच्छता के संस्कार हेतु इसे उठाया गया हो तो यह गांधी का झाडू नहीं हो सकता। क्योंकि वह दृष्टि इसमें निहित नहीं हो पायेगी। गांधी का झाडू उन सबके लिए चुनौती है जो गाहे–बेगाहे किसी भी संदर्भ में गांधी का नाम इस्तेमाल करते नजर आते हैं। बिना गांधी की दृष्टि में उनके झाडू को समझें।

आखिरी भाग 'नई संस्कृति की राह' में एक ऐसे सांस्कृतिक परिवेश के निर्माण की ओर ध्यानाकर्षक करने की कोशिश की है जिसमें हमारे पारिवारिक–सामाजिक संदर्भों में 'स्वतंत्रता' व परस्पर स्नेह के साथ, सहयोगी के रूप में जीने की चिराकांक्षा पूरी हो सके। इसमें बाधक तत्वों को भी पहचानने का प्रयास किया गया है ताकि जीवन संस्कृति की एक तस्वीर उभर सके।

–गोपाल राम

# ,d xjhc dh foue pqukSrh & ,d

"हमारी सरकार गरीबों की सरकार होगी, भारत के गांवों में रहने वाले शोषित, वंचित, देश के युवाओं, महिलाओं के लिए काम करेगी।" ये पंक्तियां संसद भवन के सेंट्रल हॉल में आज फिर कही गयीं। राजनीतिक गलियारों, मुहावरों में इन पंक्तियों को न जाने कितनी बार दोहराया गया होगा। परन्तु आज तटस्थ नहीं रहा गया क्योंकि इन पंक्तियों के साथ एक और स्वर सुनाई दिया कि यह ऐतिहासिक मौका है, अविस्मरणीय पल है, अभूतपूर्व क्षण है इत्यादि–इत्यादि। घटना पर ध्यान दें तो महज इतनी है कि एक राजनीतिक पार्टी, जो पिछले दो चुनाव हार गयी थी; इस बार जीत गयी है। ऐतिहासिक क्षण बोलकर कुछ लोगों को महिमामंडित करने की पुरजोर कोशिश में घटना की वास्तविकता, वजह व अर्थ कहीं खा गया लगता है। कई लोग भावुक हो उठे हैं शायद इसकी उन्हें आशा न थी, कई गर्व में हैं। बावजूद इसके लोकतान्त्रिक व्यवस्था की गरिमा व उसके प्रति नागरिक निष्ठा का सम्मान करते हुए मैं भारतीय जनता पार्टी को देश की जनता द्वारा प्रतिनिधित्व की जिम्मेदारी सौंपे जाने के इस महत्वपूर्ण अवसर पर बधाई देता हूं। साथ ही ये अपेक्षा करता हूं कि अगले पांच वर्ष में कुछ ऐसे कदम जरूर उठाये जायेंगे जिससे इस देश के माथे पर सदियों से लगा गरीबी, शोषण, वंचित कहलाने का कलंक कुछ हद तक कम होगा। शीर्ष की पंक्तियों में बदलाव आने की संभव शुरूआत होगी।

अब कुछ सवाल जो लंबे समय से अंतस को झकझोरते चले आ रहे हैं। ऐसे मौकों पर और मुखर हो उठते हैं। मुझे कई बार लगता है कि राजशाही के समाप्त हो जाने के बाद भी उसका संस्कार कितने गहरे अभी मनों में बैठा हुआ है। राजशाही के जमाने में जनमत संग्रह द्वारा राजा चुनने की परंपरा के उदाहरण नहीं मिलते। ये किसी बहादुरी या राजपरंपरा के हिस्सा होने भर से राजा बनने के स्वयंभू अधिकारी बनते गये। ठीक वैसे ही जैसे ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने भर से ही महान, विद्वान समझा जाता था। केवल विरासत भर से। यहां किसी परंपरा को गलत सही बताना उद्देश्य नहीं है। सिर्फ लोकतांत्रिक व्यवस्था की तरफ ध्यान दिलाना भर है। उस जमाने में 'राजतिलक', 'ताजपोशी' जैसी बातें की जाती रही हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। लेकिन आज जब हम यह मानते हैं कि हम लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को मानते हैं। वयस्क मताधिकार, जिसके तहत गरीब, वंचित, राष्ट्रपति व उद्योगपति सबका मत समान है। समान नागरिक संहिता के जरिये ही अपना प्रतिनिधित्व चुनते हैं। सबका, सबकी भागीदारी सबकी आवाज से बना तंत्र। तब इसमें कोई चुना हुआ प्रतिनितधि 'राजतिलक; 'ताजपोशी' का अधिकारी कैसे हो सकता है।

क्या मीडिया हमें फिर से राजशाही में ले जाना चाहता है। या उसके पास लोकतांत्रिक समाज के लिए यथोचित शब्दावली का अकाल पड़ गया है। लोकतान्त्रिक पद्धति से चुना गया व्यक्ति 'राजा' नहीं होता, 'जन प्रतिनिधि' हुआ करता है। लोगों की बात की महज अभिव्यक्ति करने वाला व यथोचित व्यवस्था हेतु सर्वसम्मति से निर्णय लेने वाला व्यक्ति। लोकतंत्र में जनप्रतिनिधि को जनता कुछ जिम्मेदारियां सौंपती है। निर्वहन करने हेतु। ताज सजाने के लिए नहीं। इसलिए एक जनातांत्रिक समाज में 'राजयुगीन' शब्दावली गैर लोकतांत्रिक है। गरीबों, वंचितों हेतु वाकई कोई लोकतांत्रिक सरकार प्रतिबद्धता जाहिर करती है तो उसको ऐसे प्रतीकों को भी बदलना होगा। हम उस वक्त का इंतजार करेंगे जब गरीब, वंचित कह सकेंगे कि हां हमने अपने बीच से सामूहिक हितों के लिए अपना प्रतिनिधि चुना है। तब कई आडंबरों व औपचारिकताओं की आवश्यकता शायद न रहे। यहां एक बात और स्पष्ट कर देना जरूरी है कि चीजें हमेशा तथ्यों के जरिये समझी जा सकती हैं ये आवश्यक नहीं। कई बार, कम से कम ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तो प्रतीकों से ज्यादा बेहतर समझी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए 'राम' को देखें। राम को एक दृष्टि से देखने पर वह मंदिर–मस्जिद के विवाद तक सीमित हो जाता है। मंदिर उसका सर्वश्रेष्ठ स्थान हो जाता है इसी राम को दूसरे प्रतीक के तौर पर देखें तो हमें साफ नजर आयेगा कि राम जहां पारिवारिक संबंधों में जीने की ज्वलंत प्रेरणा है वहीं उत्तर से लेकर दक्षिण भारत तक की एक संघर्ष यात्रा व उत्तर–दक्षिण की एकता के, सांस्कृतिक एकता के ज्वलंत प्रतीक हैं। पूरे रास्ते भर की यात्रा में वनवासियों, भीलों, किरातों, निषादों; जिनको आज गरीब वंचित कहा जायेगा, उनकी एकता, सामूहिक सांस्कृतिक–राजनैतिक क्रियाकलापों की अनुपम गाथा है। यह राम की एक स्वस्थ धारा है जहां राम–लंका पर विजय प्राप्त तो करता है पर उस पर राज खुद नहीं करता। विभीषण को गद्दी पर बिठाता है सांस्कृतिक एकता का लक्ष्य हासिल कर वापस लौट जाता है अयोध्या। समुद्र में पुल बंधवाकर उसे अन्य हिस्सों से जोड़ता है। ऐसा प्रतीक क्या हमारी गरीबों की सरकार को प्रेरणा दे सकता है, यदि हां तो एक स्वस्थ सांस्कृतिक धारा का विकास ऐसे तमाम प्रतीकों के जरिये हो सकता है। मंदिर–मस्जिद का विवाद ऐसे 'राम' की प्रेरणास्पद छवि को कुंद करता है। प्रतीकों का सवाल इसलिए उठाया क्योंकि राजनीति में प्रतीकों का बहुत महत्व है। क्या हम आशा कर सकते हैं कि एक लोकतांत्रिक समाज में जनमत द्वारा चुनी गयी सरकार इन प्रतीकों से वर्तमान संदर्भों में लोकतान्त्रीकरण की दिशा में कदम बढ़ायेगी? या बेहतर लोकतंत्र के ख्वाब के साथ ही संतुष्ट रहना होगा।

मैं प्रचलित राजनीति का सक्रिय हिस्सा नहीं हूं। न ही मेरी कोई तथाकथित सामाजिक–राजनैतिक हैसियत है। मैं तो गांधी की प्रेरणा के अनुसार समाज कर्म के माध्यम से स्वयं की असलियत से परिचित होने के लिए तत्पर हूं। ऐसे में जब गरीबों के नाम पर स्वराज के नाम पर शोरगुल सुनता हूं तो पीड़ा होती है। और यह प्रश्न ज्यादा तीव्र होता है कि कौन है गरीब? क्या है स्वराज? मनुष्य हूं तो इसका कहीं संभव, कुछ तत्काल संतुष्टिपरक उत्तर खोजता हूं; तब मुझे गीता की पंक्तियां याद आती हैं, "उससे उसका सब कुछ छीन लिया गया हो कि उसे सड़कों पर अकेला, भूखा, ठण्ड से सिकुड़ता घूमना

पड़ता हो कि उसे किसी भी जीव की आंखों में अपने लिए ममता व प्रीति न झलकती हो फिर भी अपने होठों में मुस्कुराहट लिये वह अकेला चला जा रहा हो क्योंकि उसने आंतरिक स्वराज्य प्राप्त कर लिया है।" यहां ये पंक्तियां किसी महान ग्रन्थ की महान भगवदवाणियां न होकर, हमारे पूर्वजों के अनुभवों, परस्पर शुभेच्छाओं व कल्पनाओं की अभिव्यक्ति भर हैं। गीता को हम धर्मग्रन्थ मानते हैं, ईश्वर वाणी मानते हैं इसलिए ये पंक्तियां महान हो गयी इस बहस में मैं नहीं पड़ना चाहता। ये पंक्तियां गीता में न होकर बाइबिल या कुरान या अन्यत्र कहीं और भी होती तो भी महज हमसे पहले दुनिया में जी चुके लोगों के अनुभवों व उससे जनित भविष्य की प्रेरणाभर ही होती। असल में तो सत्य किसी धर्म, धर्मग्रन्थ, विचारधारा, वैचारिक समूह, अध्यात्म संगठन, शासन–प्रशासन, राजनैतिक–सामाजिक व्यवस्था के एकाधिपत्य की वस्तु नहीं है। सत्य या वास्तविकता सर्वत्र बिखरी पड़ी है। जिसने परिश्रम किया, पा लिया। इस पाने में एक विनम्रता है। मैंने किसी सत्य का दर्शन किया है तो सहज ही प्रेरणास्रोत बनूंगा। इसकी जगह कुछ और हो रहा है तो यह विकृति है संस्कृति नहीं। आज मानव समाज के तमाम संबंध स्व से पर का संबंध, परिवार संबंध, समाज संबंध, मानव–प्रकृति संबंध में एक अलग किस्म का अलगाव आया है। जिससे हमारे समाज को आपस में जोड़ने वाले जो सांस्कृतिक संबंध थे, वे छिन्न–भिन्न हो रहे हैं। आज सांस्कृतिक मूल्यों को फिर से परिभाषित करने की जरूरत हो गयी है। इसलिए अपने–अपने सत्यों पर विश्वास रखते हुए भी विनम्रता के साथ दूसरों के सत्य पर भी संवाद का माहौल बनाकर एक वृहत सत्य का निरूपण करना समाज की सांस्कृतिक गरीबी को कम करने की तरफ बढ़ता कदम होगा। लोकतांत्रिक समाज में मनुष्य की पहचान, मनुष्य की गरिमा–अस्मिता का क्या अर्थ होना चाहिए? यह सवाल सांस्कृतिक गरीबी पर संवाद का केन्द्रीय सवाल हो सकता है? क्या कोई लोकतांत्रिक सरकार इस तरह की प्रक्रियाओं को समाज में संवाद का माध्यम बनाने में अगुवा की भूमिका निभा सकती है। मनुष्य की गरिमा उसकी सांस्कृतिक अस्मिता के व्यापक घेरे का निर्माण कर सकती है? यदि हां तो तमाम निर्जीव विचारों को अपनी आत्मा से उसी तरह से अलग करने का वक्त (जैसे पतझड़ के समय में पेड़ अपने निर्जीव पत्तों को खुद से अलग करता है, ताकि फिर से नये पत्तों का संवरण हो सके) हमारे पास हमेशा मौजूद है।

पुनः गीता की पंक्तियों पर जाएं। क्या उक्त पंक्तियों में परिभाषित व्यक्ति कभी गरीब हो सकता है? फिर गरीब है कौन? किस गरीब के लिए सरकारें बनती आ रही हैं आज तक? गरीब आज भी अपरिभाषित है। हमने गरीबी रेखा से नीचे व गरीबी रेखा से ऊपर कुछ रुपयों की आय के आधार पर गरीब को परिभाषित करने की कोशिश जरूर की है। फिर भी यह प्रश्न अनुत्तरित है कि असल में गरीब है कौन? यह गरीबी रेखा के ऊपर जाना या नीचे जाना क्या होता है? गरीबी रेखा से नीचे कैसे पहुंच गया कोई? कैसे बनते हैं गरीब? और क्या–क्या चाहिए इस गरीब को कि यह गरीबी रेखा से मुक्ति पा जायेगा। गरीबी की लक्ष्मण रेखा को लांघ जायेगा? इन सवालों की तफ्सील में जाने का वक्त आ गया है। क्योंकि हमारी जनतांत्रिक सरकार के मुख्य प्रतिनिधि ने संसद के सैंट्रल हॉल में कहा कि हमारी सरकार गरीबों के लिए होगी। यहां गौरतलब है कि उन्होंने यह नहीं कहा

कि सबके लिए होगी, यह भी नहीं कहा कि अमीरों के लिए भी होगी। यह बात गरीबों में एक आशा तो जगाती ही है।

अब अपने देश के परिदृश्य में गरीबी को देखें तो पता चलता है कि यहां हर आदमी गरीब पैदा होता है, गरीब मरता है। क्योंकि वास्तव में अमीर है कौन यह अभी तक तय नहीं हा पाया है। जिसके पास आज खरबों की संपत्ति है वो आज अमीर है कल किसी की उससे ज्यादा हो गयी तो वो अमीर। यानी अमीरत्व कोई आखिरी पड़ाव नहीं है। कोई कह सके कि हां, अब मैं अमीर हो गया। जैसे गीता में स्पष्ट है कि ऐसे आदमी ने आंतरिक स्वराज्य प्राप्त कर लिया है। क्या कोई कह सकता है कि हां मैंने अमीरत्व प्राप्त कर लिया है अब और जरूरत नहीं। ऐसा दुनिया में नहीं हो पाया अमीरों की लिस्ट हमारे पास है उसमें फेरबदल होता रहता है। अर्थात जो खरबपति हैं वो भी बेचारा गरीब है तो हम सब गरीब हैं। सारी दुनिया गरीब है। जाहिर है गरीबों की सरकार है, गरीबों पर ही राज करेगी। शोषित, वंचितों की, शोषित वंचितों के लिए है। अब मुझे कभी अमीर होना ही नहीं है तो गरीबी मुक्ति का प्रश्न बेमानी हो जाता है। यदि इसी अर्थ में गरीबी मुक्ति की बात हो रही है तो यह सार्वजनिक बेमानी तो है ही, शायद नासमझी भी। अतः इस सृष्टि की अनुपम कृति मनुष्य प्रजाति सब कुछ उपलब्ध होते हुए भी गरीब रहने को विवश है। हमारी विडंबनाओं की शुरूआत यहीं से होती है।

जब गरीबी का इतना व्यापक साम्राज्य है। वह हर कृति में समा गई है तो मेरी क्या हैसियत कि मैं खुद को इससे इतर घोषित करूं। मैं भी एक गरीब हूं। एक गरीब परिवार में पैदा हुआ। कहते हैं जन्मना व मरना किसी के हाथ में नहीं होता। इसका आगे जिक्र करेंगे पर गरीबी में जन्म लेना मेरी ही नहीं हमारी सामूहिक नियति है। किस तरह का गरीब होगा, इसमें भिन्नता हो सकती है। मेरा जिस गरीब परिवार में जन्म हुआ, उस पर आज आश्चर्य होता है कि मैंने अपने परिवार के किसी सदस्य के मुंह से यह शब्द नहीं सुना कि हम गरीब हैं। अभी तक नहीं सुना कि हम गरीब लोग हैं या हमें अमीर होना है। यहां यह कहा जा सकता है कि शायद वो गरीबी की प्रचलित परिभाषा—भाषा से परिचित न हों इसलिए। लेकिन ऐसा कुछ अभाव नहीं झलका। खुद को केन्द्र में रखकर कहने से बात कहने में ज्यादा सुविधा होती है। इसलिए अपनी गरीबी को साझा कर रहा हूं। ताकि वास्तविकता के नजदीक बात कह पाऊं। जब थोड़ा बड़ा हुआ चीजों को देखने लायक तो पता चला कि हमारे पास गांव के अन्य लोगों की तरह पक्के पत्थरों का घर नहीं है। मां ने मिट्टी की दीवारें बनाकर एक कच्चा घर बनाया हुआ है, उसकी दीवारों के ऊपर कुछ डंडे डालकर किसी तरह से छत पर पुआल आदि बिछाकर मौसम में बचाव का अस्थायी आश्रय बनाया हुआ है, इस घर ने हमें कभी अभावग्रस्तता या हीन भावना में नहीं डाला। बल्कि मिट्टी की दीवार हमारे घर में ही है केवल। इस पर गर्व महसूस हुआ। मां की मेहनत के प्रति कृतज्ञता भी। पिताजी ने काम के बदले अनाज की रीति पर काम किया। उनकी ईमानदारी से कभी अन्न का अभाव महसूस नहीं हुआ। खेती की नाममात्र जमीन न होने के बावजूद हमको कभी बाजार से अनाज खरीदना हो, यह मुझे याद नहीं।

लेकिन जबसे हम भाई–बहनों ने होश संभालना शुरू किया और इधर–उधर जाने लायक हुए तो फिर घरवालों ने बताना शुरू किया वो पंडित हैं, वो ठाकुर हैं। उनके घर के अंदर मत जाना, उनके पास मत जाना। उनको छूत लग जाती है वे अपवित्र हो जाते हैं। वे बड़े लोग हैं उनको सलाम करना इत्यादि इत्यादि। पिताजी के साथ किसी घर में गये तो छींटे मारना पानी के। जिस स्थान से उठेंगे, वहां पर पानी डालना। खाकर हम खुद उनके घरों में खाने की थाली धोकर उठेंगे तो उस बर्तन में भी पानी के छींटे डालना। कई तरह के ऐसे शब्दों का इस्तेमाल जिससे उनका बड़प्पन साबित होता हो और हमारा निम्न पना अर्थात गरीबी। सीधे मुंह बात नहीं करना। उनके छोटे बच्चे भी जब पिताजी व उनकी उम्र से बड़े लोगों को बिना किसी संबोधन के नाम लेकर बुलाते थे तो लगता था कि वाकई हम लोग घटिया लोग हैं ये लोग कितने महान हैं। मनुष्य में समानता के प्रति स्वीकार्यता होती है। असमानता के प्रति नहीं। फिर भला इस असमानता के प्रति कैसे किसी में स्वीकार्यता हो सकती है। ये सब उपक्रम लगातार देखकर मन ग्लानि से भर गया। यहां तक कि चाय की दुकानों पर भी अपने चाय के बर्तन पिताजी व उनके जैसे लोग खुद मांजते रहे पैसा देने के बावजूद। चाय का प्रसंग आया तो याद आया कि इस चुनाव में यह जुमला बहुत प्रचलित रहा। बहुत जोर–शोर से प्रचारित किया गया कि एक चाय बेचने वाला देश का प्रधानमंत्री बन रहा है। यह सुनकर आंखों में आंसू भर आये और वो स्मृतियां फिर ताजा हो गयीं। यह प्रतिक्रिया उभरी और ये बेचैनी हुई कि किसी काम के प्रति इस समाज के लोगों का संस्कार छोटे–बड़े का बना रहेगा। इस आधुनिक कहलाने वाली दुनिया व उसको बनाने का दंभ भरने वाले लोग एक 'चाय बेचने वाला' कहकर क्या सिद्ध करना चाहते हैं। यह उनकी किस मानसिकता को दर्शाता है? दूसरी तरफ इससे भी कहीं महत्वपूर्ण बात जिस तरफ इस तरह की मानसिक स्थिति वालों को ध्यान कभी जाता ही नहीं कि इस देश में करोड़ों लोग अपनी सामाजिक स्थिति के कारण, जिसमें उनको निम्न दर्जे का माना जाता है; चाय की दुकान व खाने का ढ़ाबा नहीं चला सकते। इस काम से अपने परिवार का भरण–पोषण नहीं कर सकते। यदि उन्हें यह काम करना हो तो घर–गांव इलाके से बाहर नाम बदलकर, अपनी पहचान बदलकर यह काम करना पड़ता है अपने गांव क्षेत्र में चाय का खुमचा व खाने का ढाबा नहीं चला सकते। क्योंकि उनके हाथ की बनी चाय व खाना खाकर लोग खुद को अपवित्र करने का दुस्साहस कैसे कर सकते हैं। ऐसा करके नरकगामी होने का जोखिम भला जानबूझकर कौन लेना चाहेगा। यह फार्मूला व्यापार की अन्य वस्तुओं की मालिकी के सन्दर्भ में भी लागू होता है। यह है हमारे जनतांत्रिक समाज की स्थिति। चाय बेचने पर बहस करने वालों को इस बात का ध्यान ही नहीं आता क्योंकि उनके लिए यह प्रश्न गौण है। पर करोड़ों शोषित–वंचितों के लिए आजीविका का सम्मान दोनों का प्रश्न है। एक ऊपरी जुमला प्रचारित करने से कि चाय बेचनेवाला देश का प्रधानमंत्री बन रहा है, वोट की राजनीति तो की जा सकती है। पर इस गुणगान और स्तुतियों में समाज की वास्तविकताओं की आह जो उश्वास भरकर दब जाती है, हमेशा के लिए दबाई नहीं जा सकती। अपने आत्मसम्मान व जीविका की इच्छा को सदियों से दबाये इस समाज के लिए लोकतंत्र व गरीबी मुक्ति के क्या मायने

हैं? जरा कोई समझाए। मैंने समझने की कोशिश की। लोगों से, इस व्यवस्था के हिमायती लोगों से तो बोले यह तो भगवान के घर से बन कर आया है। पिछले जन्म के पाप–पुण्यों का फल है इत्यादि। इसका अंतिम छोर भगवान है जिसके बारे में हमको पता नहीं। वाह रे भगवान। मन में सोचा क्या भगवान जैसी कोई चीज है जो दुनिया बनाती है और कहां है उसकी फैक्ट्री। जहां इतनी घटिया सोच से चीजें बनाई जाती हैं। और यह धन्धा कब से चला आ रहा है। किसी को छोटा–घटिया, किसी को बड़ा–महान। यही काम रह गया उसका। उसके मन में क्या समता की कोई भावना नहीं। छोटा–बड़ा बनाने का ठेका ले लिया है उसने। याद आता है उपनिषद का वह श्लोक ईशावास्यंमिदंसर्व। ...। सब चीजों में ईश्वर का वास है जब सभी चीजों में ईश्वर का वास है तो फिर एक आदमी छोटा–घटिया कैसे? क्या उसमें ईश्वर का वास नहीं। या कुछ ईश्वर भी कुछ ऐसे ही होते हैं। मेरे मन में भगवान के बारे में खूबसूरत कल्पना थी कि भगवान बहुत खूबसूरत चीज होगी। कितना आनंद आयेगा उससे मिलकर। उसकी दृष्टि में सब समान होंगे। न ऊंचा न नीचा। वह शान्ति, विश्वास, मैत्री का साक्षात् रूप होगा। ऊपरी अवधारणा सुनकर उस कल्पना को धक्का लगा। कहीं सुना या पढ़ा कि भगवान दुष्टों का नाश करने के लिए अवतार लेते हैं। लगा काश भगवान शान्ति, मैत्री के लिए जन्म लेते। दुष्ट का नाश तो कोई दुष्ट भी कर सकता है। पर कोई दुष्ट मैत्री स्थापित कर पाया हो, ऐसा नहीं सुना। कुछ बड़ा होने पर पता चला कि भगवान भी एक चीज नहीं है। कई हैं ईश्वर है, अल्लाह है, गॉड है इत्यादि–इत्यादि। उनके भी कई और...। पर मेरी भगवान की कल्पना के नजदीक कोई बैठ न पाया। मुझे तो चाहिए था सबको समान दृष्टि से देखने वाला भगवान, दुनिया में लोगों के मनों में शान्ति स्थापना, परस्पर मैत्री, व विश्वासपूर्ण समाज की निर्मिति का वाहक भगवान। लेकिन यहां तो भगवान के नाम पर मिला द्वेष, हिंसा, वैमनस्यता, अराजकता। नहीं चाहिए ऐसा भगवान। चीत्कार उठा था मेरा मन।

इस बात से भगवान के प्रति नफरत न हुई। जिसे हम सब कुछ मानकर पूजते हैं; वो बेचारा कितना निस्सहाय, निरूपाय है। जैसे लोग उसे बनाते हैं वैसा बन जाता है। उसके खुद का कोई अस्तित्व नहीं, व्यक्तित्व नहीं। पर इस सबका प्रकोप भाजन बनता है पूरा समाज। जब परस्पर आपस में मानव–मानव के बीच मैत्री की, विश्वास की आशा नहीं रह जाती तब वह कोई और सहारा खोजता है। उसी बड़े सहारे का नाम है, ईश्वर, अल्लाह, गॉड। इसलिए करोड़ों, गरीबों, वंचितों का सहारा है यह। दुःख, अपमान के क्षणों का सहारा। पर यह पवित्र सहारा न रहकर जब मानवीय रूप में परिवर्तित होता है तो पुनः परस्पर विद्वेष, हिंसा, ध्वंस का कारण बनता है। यही इसकी नियति, निर्मिति है। जैसे ही इस पवित्र सहारे को मनुष्य रूप में पूजना शुरू करते हैं तो वह मैत्री, विश्वास की आशा न बनकर किसी दूसरे के सहारे से टकराता है। आदमी जैसा होता है, वैसी ही सृष्टि का निर्माण करता है, ये बात अनुभवसिद्ध है। किसी खास तरह के मनुष्य रूप में चमत्कारिक ईश्वर को मानने वाले लोगों का एक कुनबा घोषित किया गया जिसे धर्म कहा गया। उसके अन्तर्गत रहने वाले लोगों में भगवान की स्वीकार्यता से कुछ नियम बने। वे परस्पर मानवीय मनों के विभाजन का कारण बन गये। कुछ लोग उच्च व कुछ पैदाइशी नीच माने

जाने लगे। ये कथायें कई बार दोहराई जा चुकी हैं यहां इन्हें पुनः कहने का अर्थ यह है 'धार्मिक गरीबी'। इस भगवान, अल्लाह गॉड की स्वीकृति से जो समाज की धार्मिक रचना बनी है उसमें करोड़ों लोग हमेशा अपमान सहने, घृणित रहने, असुरक्षा के भाव में जीने को विवश हैं। मानसिक विकास की दूरी तय करने में अक्षम हैं, अयोग्य माने जाते हैं। क्या इस 'धार्मिक गरीबी' को कोई लोकतांत्रिक सरकार मिटा सकती है? क्या यह बात भी गरीबी में नहीं आती। वंचित में नहीं आती। क्या इतिहास को रचने की बात कहने वाली सरकार मानव–मानव संबंध की कोई नई नीति–नई परिभाषा, नई अवधारणा स्थापित कर पायेगी, जहां मनुष्य–मनुष्य पर भरोसा कर सके। हमेशा इस व्यवस्था में भगवान भरोसे न जीता रहे। क्या धर्म की सर्वमान्य परिभाषा, नये समता के भगवान, मैत्री, विश्वास के भगवान को गढ़ने हेतु विभिन्न मान्यता वाले तथाकथित धार्मिक समूहों, संगठनों, भिन्न जाति समूहों के बीच परस्पर संवाद के जरिये देशवासियों को धार्मिक गरीबी से मुक्ति की पहल की अगुवाई गरीबों का हित सर्वोपरि रखने वाली सरकार कर पायेगी? ताकि धर्म मानव के परस्पर विश्वास, मैत्री, शान्ति का संवाहक बने। हिंसा व एक–दूसरे को किन्हीं काल्पनिक या गैरजरूरी मान्यताओं के आधार पर द्वेष का कारण नहीं। ऐसे समाज में चाय बेचना भी गौरव की बात होगी। जहां अछूत, अपवित्र समझी जाने वाली सामाजिक इकाइयां चाय व भोजन का ढ़ाबा खोलकर आजीविका चला सकें व आत्मसम्मान महसूस कर सकें। अन्यथा चाय पर बहस निरर्थक है। यदि ऐसा कोई ठोस एजेण्डा कार्यक्रम के तौर पर गरीबों की सरकार के पास न हो तो।

स्त्री सम्मान का प्रश्न इस प्रश्न के साथ जुड़ा है। धार्मिक गरीबी की एक जीती जागती मिसाल स्त्री है जो पुरूष से अपनी शारीरिक बनावट की भिन्नता के चलते दोयम दर्जे की नागरिक रहने के लिए बाध्य बनाई गई है। हमारा धर्म स्त्री में देवी देख लेता है, मां देख लेता है, कन्या देख लेता है। मित्र नहीं देख सकता। जैसे ही स्त्री देवी होती है, मां होती है, कन्या होती है वैसे ही पूजनीय हो जाती है। सामान्य मनुष्य नहीं रहती। असाधारण, अद्धितीय हो जाती है। जो पूजनीय है उससे बराबरी का प्रश्न ही कहां उठता है। बराबरी का सवाल खड़ा होता है मित्र संबंध में जहां स्त्री पहले दासी थी आज बाजार में भोग की वस्तु की तरह समझने की पुरूष मानसिकता से बंधी हुई। जगतगुरू से लेकर महानता की सारी उपाधियां पुरूषों की स्वयं के लिए बनायी हुई हैं। आज स्त्री, पुरूष से इतर अपनी पहचान चाहती है, अपनी अस्मिता अपनी गरिमा के साथ जीना चाहती है। अपनी अस्मिता व समाज में बराबरी की भागीदारी ढूंढने को तत्पर है पर हमारी समाज व्यवस्था में ये आश्वस्ति नहीं है कि कोई स्त्री सुरक्षा व संबंध के भाव से अपने कार्यक्षेत्र में विचरण कर सके। गांधीजी ने कहा था कि भारत को सच्ची आजादी तब मिलेगी जब स्त्री को आजादी मिलेगी। और यह देश सच्चे अर्थों में तब आजाद होगा जब कोई स्त्री बारह बजे रात में भी घर से बाहर निकलकर निडर होकर चल सकेगी। समाज–धर्म की वे कौन सी मान्यताएं हैं जिनके चलते स्त्री को उसकी अपनी वास्तविक पहचान के लिए संघर्ष करना पड़ता है, अपनी आत्मछवि के लिए। स्त्री के स्व की पहचान व स्त्री पुरूष के संबंध को पुनर्परिभाषित करने हेतु वर्तमान कल्याणकारी सरकार के पास क्या नीति है। या

यह सब समाज पर छोड़ दिया है। महिलाओं को कानूनन जो हक मिले हैं वहां भी हमारी वर्षों पुरानी मान्यतायें संस्कार आड़े आते हैं। स्त्रियां कामकाजी के रूप में माहिर जरूर हो रही हैं पर देश समाज की नीतियों को तय करने, समाज का दर्शन गढ़ने जैसे मौलिक क्रियाकलापों में स्त्री की पूर्ण भागीदारी का दौर कब शुरू होगा? परिवार, गांव, समाज, देश की नीतियां, जीवन बंदोबस्तों, आर्थिक–सांस्कृतिक–राजनीतिक व्यवस्थाओं का स्वरूप कैसा हो? इस सवाल पर स्त्री की मौलिक राय व निर्णयात्मक सोच का प्रादुर्भाव हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में कब होगा? क्या इसका कोई एजेण्डा गरीबों की सरकार के पास है? स्त्री–पुरूष का संबंध क्या हो? किन आधारों पर हो? यह आज की छिन्न–भिन्न होती जा रही पारिवारिक–सामाजिक व्यवस्था में कठिन सवाल है। जिसका कोई सर्वस्वीकृत समाधान निकालना आवश्यक है। यह स्त्री की अपनी अस्मिता–गरिमा की पहचान के बिना संभव नहीं। अन्यथा एक संबंध विहीन समाज की तरफ बढ़ना हमारी नियति है। एक लोकतांत्रिक समाज में स्त्री–पुरूष संबंध का क्या अर्थ है उसके क्या आयाम हैं? इसकी क्या कोई ठोस सोच कल्याणकारी सरकार के पास है? जिससे हम ये कहें कि हम 'संबंधों की गरीबी से' मुक्ति पा जायेंगे। परस्पर संबंध जीने में गरीबी महसूस नहीं करेंगे। स्त्री के प्रति समाज का नजरिया बदलने की कानूनन सुरक्षा के अलावा अन्य कोई नीति है क्या? उनको आत्मसम्मान–आत्मगौरव के साथ निर्णयों में बराबरी व मौलिक रूप से चिन्तन में भागीदारी हेतु जटिल सवालों पर राय हेतु कोई प्रक्रिया अगले कुछ वर्षों के लिए है क्या? यहां गौरतलब है कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया में वोट के जरिये प्रतिनिधि (महिला प्रतिनिधि) का चुनना एक बात है। भागीदारी दूसरी बात। वह भी सोच व नीतियों के संदर्भ में निर्णयात्मक भागीदारी। जब तक ये प्रक्रियायें नहीं चलाई जायेंगी तब तक स्त्री पुरूष समाज में असुरक्षित है। दोयम दर्जे की नागरिकता के लिए बाध्य हैं। एक लोकतांत्रिक समाज हेतु इन जटिल प्रक्रियाओं पर संवाद आवश्यक है। अन्यथा बातचीत में आप तो मां हैं, देवी हैं का पारंपरिक अलाप कर समाज में तत्संबंधी जघन्य अपराधों पर मूकदर्शक बने रहना हमारी नियति बन जायेगी।

गरीबी का एक और आलम है जो हमें अपनी जीविका, खाने–कमाने के तरीकों की तरफ सोचने को मजबूर करता है। कहा जाता है कि कभी हिन्दुस्तान की अर्थव्यवस्था ग्राम उद्योग आधारित थी। घर–घर उद्योग–धन्धे थे। गांव की जरूरत की वस्तुएं गांव में ही उपलब्ध–निर्मित कर ली जाती थीं। लोगों के काम करने के अपने स्वायत्त तरीके थे। प्रकृति की व्यवस्था पर आधारित तकनीकी थी। यंत्रों का भी ऐसा विकास किया गया कि आदमी निकम्मे न रह जायें। साथ ही प्रकृति की चक्रीय व्यवस्था को कोई क्षति न पहुंचे। आधुनिकता के नाम पर यंत्रों द्वारा फैले कारोबार के कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से गांवों का कच्चा माल लुटा व उत्पादन का केन्द्रीयकरण शुरू होने से हाथ व अपनी पहुंच के यंत्रों द्वारा संचालित ग्रामीणों के हुनर, काम छिन गये। जिन लोगों की बदौलत हिन्दुस्तान का उद्योग दुनिया भर में परचम लहरा रहा था वे लोग रोजगार विहीन हो गये।

खेती, औद्योगीकरण की केन्द्रीकृत नीति से बर्बाद हो गयी। नेहरू जी के आधुनिक भारत के औद्योगिक मंदिर अब भी ग्रामीण भारत को रौंद रहे हैं। गांव में जीविका के साधन छिनने लगे तो लोग गांवों से पलायन को मजबूर हो गये। आज गांवों की ये स्थिति है कि वहां लोग मजबूरी में रह रहे हैं। जहां–तहां से लोग रोजगार के लिए शहरों में झुग्गियों में जीवन यापन करने को बाध्य हैं। लोग खेती छोड़कर शहरों में छोटी–मोटी नौकरी की खोज में जा रहे हैं। रोजगार तो छिन ही रहा है, औद्योगीकरण के नाम पर, विकास के नाम पर जमीनें भी अधिग्रहित हो रही हैं, छिन रही हैं। लगातार गांव खाली होने का सिलसिला जारी है। उद्योग गांव की कुर्बानी पर खड़े हैं। परिणाम शहर (बाजार) की तरफ लोगों का रूख है। आज याद आ रहा है कबीर का दोहा, "कबिरा खड़ा बाजार में, लिया लकुटिया हाथ, जो घर फूकों आपनो, चलो हमारे साथ।" आज शहरों के वातावरण में घर–गांव–पड़ोस सब घर फूंके हुए लोग भर रहे हैं। अब ये किसकी दया है कि ये लोग अपने काम–धन्धे, घर–बार, गांव, समाज से दूर हो गये, किसकी बदौलत? देश की आठ प्रतिशत विकास दर किसकी है? किसके लिए है? गांवों को बर्बाद करने के लिए। लोगों को उजाड़कर गन्दी बस्तियों में धकेलने के लिए। क्या हिन्दुस्तान की जिस महान सांस्कृतिक विरासत का राग हम लोग अलापते हैं वो शहर के दमघोटूं वातावरण में संभव है? जहां मनुष्य का रिश्ता मनुष्य से व्यावसायिक भर है। इस सबके बीच इस बात को सुनकर तरस आता है कि हमारा विकास मॉडल है। पंजाब का विकास मॉडल, गुजरात का विकास मॉडल, इण्डिया का विकास मॉडल। अंततः अमेरिका का विकास मॉडल। इससे भी और आगे जाएं तो यह फलाने आदमी का विकास मॉडल। तो एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि किसका हो रहा है विकास? कैसा होता है विकसित आदमी, विकसित समाज, विकसित देश? कौन लोग विकसित हो चुके हैं मैं जानना चाहता हूं कि कैसे होते हैं विकसित लोग बस मनुष्य हूं ना इसलिए मानवीय जिज्ञासा स्वाभाविक है उनका मॉडल जानना भी जरूरी है ताकि हम भी तर जायें। मैंने सुना कि सबसे पहले विकास शब्द को जैसे आज इस्तेमाल किया जाता है, उस अर्थ में पहली बार 1949 में अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट जी ने किया था कि हम 'डेवलप्ड कंट्री' हैं बाकी सब...। तब से यह तोता रटंत शोर चारों तरफ मच गया कि हमें विकसित होना है। यह है हिन्दुस्तान की आत्मछवि। हमको किसी और जैसा ही होना है तो ये रोना बंद करना होगा कि हम विश्वगुरू हैं हमें दुनिया को रास्ता दिखाना है। किसी को बड़ा मानकर व्यक्ति राष्ट्रहीन भावना में जाता है, आत्मगौरव में नहीं। हम अविकसित हैं इस हीन भावना से क्या कोई विकसित हो सकता है। हिन्दुस्तान में विकास शब्द का कभी एकांगी इस्तेमाल नहीं किया गया। मनुष्य सृष्टि की बहुआयामी इकाई है। इसलिए चीजें हमेशा किसी संदर्भ, किसी आयाम में जुड़कर अभिव्यक्त होती हैं। विकास के संदर्भ में यह मानसिक विकास, आध्यात्मिक विकास, शारीरिक विकास, आर्थिक विकास, सांस्कृतिक विकास इन आयामों के साथ जुड़कर इस्तेमाल होता रहा है। हम पूछना चाहते हैं कि आप इस देश के वासियों का कौन सा विकास करना चाहते हैं और उसके लिए आपकी क्या योजना है? हमारे विकास के मॉडल किसी की नकल से निकलते हैं या अपनी धरती की खोज से। दुनिया की महान खोजों का गढ़ रही इस धरती के लोगों के लिए

सवाल है कि क्या 1757 में प्लासी के युद्ध में अंग्रेज मात खा गये होते या 1857 की क्रान्ति सफल हो गयी होती या थकी हारी कांग्रेस ने अंग्रेजियत की व्यवस्था के सम्मुख 1947 में घुटने न टेक दिये होते, अपनी व्यवस्थाओं पर पुनर्विचार किया होता तो भी हिन्दुस्तान की आधुनिकता या विकास मॉडल या मार्डनिटी ऐसी ही होती जैसी आज पश्चिमी देशों की असंभव नकल पर चल रही है। या अपने अनुसार हमने अपनी व्यवस्थाओं में जरूरी व संभव सुधार किये होते जीने के नये तरीके दुनिया को सिखाये होते? क्या पिछले 50 साल में जिस तरह से यहां की व्यवस्थाओं; शिक्षा, उद्योग, न्याय, भाषा, तकनीकी इत्यादि का ध्वंस हुआ है। इस देश में जो औपनिवेशिक भाषा–तकनीकी– संस्कृति का दबदबा बढ़ा है। अपनी भाषा–तकनीकी–संस्कृति के प्रति हीन भावना आयी है। इस सबसे देशी व्यवस्थाओं के ध्वंस होने के चलते जो आर्थिक–मानसिक गरीबी आयी है। क्या हम अपनी भावी सरकार से ये अपेक्षा कर सकते हैं कि वह 21वीं सदी के कोलाहल के बीच (भारतीय कालगणना के अनुसार हम 26वीं–27वीं सदी में चल रहे हैं) अठारहवीं सदी में खड़े होकर फिर से अपने देश को देश–समझकर यहां की व्यवस्थाओं का पुनर्निर्माण कर एक देशी आधुनिकता का मॉडल बनाने की ओर एक कदम बढ़ायेगी। जो किसी की नकल पर नहीं बल्कि हमारे देश की साझी विरासत के आधार पर खड़ा होगा। ऐसे लोकतांत्रिक मॉडल जिस पर इस देश का हर नागरिक गौरवान्वित महसूस कर सकेगा। तभी भावी प्रधानमंत्री जी के शपथ ग्रहण समारोह से पहले गांधी की समाधि राजघाट पर जाने का साफल्य प्राप्त होगा। अन्यथा राजघाट पर तो रोज ही हजारों लोग माथा टेकते हैं।

गांधी का सपना उसी देशी व्यवस्था का साझा सपना है। गांधी का विकास मॉडल, जिसमें विकास अकेले नहीं आता, आध्यात्मिक, शारीरिक, मानसिक संदर्भों के साथ आता है। और उनके इस मॉडल की, देशी आधुनिकता की बुनियाद गांव हैं। गांव उतना ही पुराना है जितना कि मानव सभ्यता। इसलिए आज का गांव किसी भी तरह वह गांव नहीं है लंबे समय से उसमें कई तरह की अनावश्यक बुराइयां घर कर गयी हैं। इसके प्रति गांधी सचेत थे। उन्होंने कहा कि करोड़ों लोगों को शहरों, महलों में नहीं बल्कि गांव में झोपड़ियों में रहना होगा। शहरों में हिंसा व असत्य का सहारा लिये बिना रहना संभव ही नहीं। प्राचीन भारतीय गांव, भारतीय शहरों की जरूरत पैदा करते थे। गरीबी तब आई जब हमारे शहर विदेशी माल के बाजार बनने लगे। विदेश का सस्ता, भद्दा माल गांव में भरकर उन्हें चूसने लगे। शहर गांव के पोषण नहीं बल्कि शोषण पर खड़े होते गये। गांव से मिली शक्ति व पोषण का बदला शोषण से, शहर विदेशी आधिपत्य की देन है अन्यथा भारत लाखों गांवों का देश था। स्वायत्त, स्वावलंबी, आंचलिक स्वायत्त सत्ताओं से परिपूर्ण। कहा जाता है कि महाभारत के युद्ध में 100 राजाओं ने भाग लिया था। इससे स्पष्ट है कि आंचलिकतायें अपनी स्वायत्तताओं के साथ फल–फूल रही थीं भौगोलिक अंचलों के तहत व्यवस्थायें चल रही थीं। वर्तमान की तरह केन्द्रीकृत व्यवस्था नहीं थी। भारत की विविधता, नदी घाटी संस्कृति, आंचलिकता पर आधारित थी। इसलिए गांधी के गांव का यही देशी सपना था। उन्होंने नेहरू जी को समझाने की कोशिश की पर असफल रहे। गांधी के सपनों का गांव था जिमसें तमाम जरूरत के सामान गांव की परिधि या आस–पास

के परिवेश में उपलब्ध हो, कपड़ा, कपास, अनाज, खेल–कूद, मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था हो। आर्थिक लाभकारी फसलें हों पर गांजा, तंबाकू, अफीम नहीं। हर गांव में नाटकशाला, पाठशाला, सभा भवन हों गांव की आबादी 1000 आदमी। पर्याप्त प्रकाश, स्वच्छता, हवा की व्यवस्था। साग, सब्जी, मवेशियों हेतु जमीन। चरागाह, गलियां, कुंए,, पूजास्थल सबके लिए खुले स्वच्छ वातावरण में निर्मित। औद्योगिक इकाइयां, शिक्षा, डेरी उद्योग की व्यवस्था ग्राम पंचायत के अधीन। आपसी झगड़ों का निपटारा ग्राम पंचायत करेगी। ऐसे गांव में बुद्धि व आत्मा को संतुष्ट करने वाली कला, कारीगरी के शिल्पी होंगे, कवि, चित्रकार, भाषाविद्, शरीर संबंधी जानकार, शोधार्थी होंगे। गांव आज की तरह उजड़ा कूड़े–कचरे का ढेर नहीं बल्कि सुन्दर बगीचों–खलिहानों से भरा होगा। जिन यंत्रों को साधारण बुद्धि से संचालित किया जा सकता है, स्वयं निर्माण किया जा सकता है उनको प्राथमिकता होगी। स्त्री–पुरूष दोनों की बराबर भागीदारी होगी। ऐसे गांव में कोई निकम्मा न होगा। इत्यादि...

यह था हिन्दुस्तान के सपने का गांव। इस देश की देशी आधुनिकता की बुनियाद। ऐसे गांव का कोई शोषण नहीं कर सकता था। इस जगह से शुरू हो सकती थी हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक क्रांति की शुरूआत। जिसके लिए कभी यह देश विश्व में जाना जाता था। इसके लिए कठिन साधना, सेवाभाव, धैर्य की आवश्यकता थी। पर सत्ता प्राप्त व्यक्ति के पास ये कहां? इसलिए गांधीजी ने कहा था आजादी प्राप्ति के बाद कांग्रेस को पार्टी के तौर पर अपना विसर्जन कर देना चाहिए और गांव–गांव में सेवक बनकर विनम्र भाव से इस देश को वास्तविक आजादी दिलाने के लिए काम शुरू कर देना चाहिए। सेवक बनकर न कि साहब बनकर। मगर यह हो न सका। गांधी अपने सपने के साथ विदा हो गये। पर साझे सपने टूटा नहीं करते। किसी न किसी रूप में मौजूद रहते हैं। आज जब आधुनिकता के नाम पर तथाकथित विकास की होड़ में प्रकृति का अंधाधुंध दोहन करने से जब पानी, हवा, धरती, मिट्टी प्रकृति प्रदत्त उपहारस्वरूप वस्तुओं का अभाव, व प्रदूषण महसूस होने लगा है। मनुष्य–मनुष्य व मनुष्य से प्रकृति, समाज के तमाम संबंधों को एक खास दिशा में संचालित किया जा रहा है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया व इस व्यवस्था के पैरोकार लाभार्थी–स्वार्थी तत्वों के पैसों पर आधारित इंटरनेट के इस्तेमाल से सूचनाओं के जरिये लोगों को 'बाजार का स्वर्ग; उपभोग की वस्तुओं का स्वर्ग साक्षात धरती पर उतारने का वादा कर लोगों के दिमाग को सोचने की दिशा में कुंद किया जा रहा है। ऐसे समय में आर्थिक समता, प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता व सांस्कृतिक धाराओं तथा मनुष्य की गरिमा की बात करना जितना कठिन हो गया है उतना ही जरूरी भी हो गया है। इस बात का प्रतिपादन करना कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का लक्ष्य सारी दुनिया की वस्तुओं को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के जरिये बाजार में इकट्ठा कर भोगने का नहीं बल्कि मानवीय चेतना के माध्यम से सांस्कृतिक एकता की स्थापना करना है।

इन तमाम जटिल परिस्थितियों के बीच से स्वराज का रास्ता निकालना है तो वाकई आधुनिक होने की आवश्यकता पड़ेगी जो देशी व्यवस्थाओं पर खड़ी तो होगी लेकिन उसकी

हर चीज को मानने के लिए बाध्य नहीं होगी। पर बाजारू आधुनिकता जिसको मॉर्डनिटी कहा जाता है वो तो चंद दिनों की मेहमान है क्योंकि बाजार की कोई भी वस्तु स्थायी नहीं होती यह उसमें लिखी 'एक्सपायर डेट' से ही प्रमाणित हो जाता है। इसी तरह वर्तमान की मॉर्डनिटी की भी एक्सपाइरिंग डेट उसमें अंकित है। अब सवाल उठता है कि स्वराज क्या है? भारतीय आधुनिकता क्या है? इन तमाम सवालों का जवाब ऊपर जितनी तरह की गरीबियों का जिक्र किया गया है उन पर स्वस्थ प्रक्रियायें चलाने से मिलेगा। यह गौरतलब है कि अपनी भाषाओं, संस्कृति, गाय, गंगा, जाति, स्त्री, परिवार, गांव, समाज के बारे में नये सिरे से सोचने व व्यवस्थाओं का निर्माण करने से इस आधुनिकता का जन्म होगा। आज प्राथमिकता ग्राम व स्वराज के लिए लोक को तैयार करना। गांधी का यह काम अधूरा रह गया है। लोक स्वराज के लिए तैयार होगा तभी स्वराज की कल्पना साकार होगी। आज लोग मानस तैयार नहीं है तैयार होता तो बहुराष्ट्रीय कंपनियों का सामान न खरीदता, न बेचता, उनमें नौकरी न तलाशता। शराब के लिए वोट न डालता। बेकारी की शिक्षा में बच्चों को न झोंकता। किन्हीं आधारों पर जनसमर्थन जुटाना लोगों में आक्रोश भरना एक बात है, स्वराज यानी वास्तविक लोकतंत्र के लिए लोगों को तैयार करना बिल्कुल जुदा बात। क्या लोकतंत्र की धुरी लोक को स्वस्थ प्रक्रियाओं के जरिये हमारी कल्याणकारी सरकार स्वराज की तैयारी के लिए कदम बढ़ाने की शुरूआत कर सकती है? या अब भी इस वहम में हैं कि प्रकृति की लूट व मानव के अभूतपूर्व शोषण पर टिका वर्तमान विकासमान, धरा पर काल्पनिक स्वर्ग का भान कराने वाली तथाकथित मॉडर्न व्यवस्था के चलते हिन्दुस्तान विकसित देश कहलायेगा। या कि अब पीछे लौटा नहीं जा सकता। यहां सवाल आगे–पीछे लौटने का नहीं बल्कि मानव मात्र ही नहीं सृष्टि पर समस्त जीवन की पवित्रता का है मानव की गरिमा का है। मनुष्य की कल्याणकारी संभावनाओं उसके आत्मसम्मान का अस्मिता का है जिसे तथाकथित आधुनिक व्यवस्था रौंदती जा रही है। आज सवाल अपनी आवश्यकताओं को पहचानने का है। गरीबी मुक्ति का रास्ता इन्हीं सवालों से होकर जाता है। मनुष्य को पलायन करने की स्वतंत्रता है पर यह समाधान तो नहीं है। वर्तमान लोकतांत्रिक सरकार के पास अवसर हैं कि वह इस जिम्मेदारी का निर्वहन कर वाकई इसे ऐतिहासिक बना दे। जीत–हार ऐतिहासिक नहीं होती; ऐतिहासिक होता है 'सृजन'। 2019 में राजग के कार्यकाल के 5 वर्ष पूरे होंगे। गांधीजी को उसी साल 150 वर्ष पूरे होंगे। वर्तमान सरकार के प्रधानमंत्री उसी प्रदेश से हैं जहां गांधी जन्मे। कभी कृष्ण ने उस प्रदेश को अपनी कर्म स्थली बनाया आशा है इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को वे ऐतिहासिक बनाकर गांधी को सच्ची श्रद्धांजलि देंगे। हम भी कह पायेंगे कि 'अच्छे दिन आ रहे हैं'।

# एक गरीब की विनम्र चुनौती – दो

मैंने अपनी स्कूल की पढ़ाई के दौरान इतिहास की पुस्तक में पढ़ा था कि जहांगीर के शासन काल में उनके महल के बाहर एक बड़ी घंटी लटकी रहती थी और उस घंटी से एक जंजीर लगी थी जिसका एक सिरा सड़क पर था। उस सिरे को पकड़कर कोई भी नागरिक, जन–सामान्य अपनी फरियाद को लेकर घंटी बजा सकता था और जहांगीर महल से बाहर झरोखे पर आकर वहां से उस व्यक्ति की फरियाद को सुनते थे और समस्या का निराकरण करते थे। यह राजा व प्रजा के बीच संवाद का सीधा तरीका था। उस समय–काल में यह न्याय (सामाजिक–राजनीतिक) का ढ़ांचा था। जिससे फरियादी की समस्या पर तत्काल गौर फरमाया जा सकता था। इस घटना का जिक्र करने का उद्देश्य राजयुगीन व्यवस्थाओं को सही या गलत ठहराना नहीं है बल्कि इस तरफ ध्यानाकर्षण करना है कि यह उस समय की सामाजिक–राजनीतिक न्याय की व्यवस्था थी। जनता से, अवाम से सीधे जुड़ाव का यह तरीका उस समय विकसित किया गया था या राजा भेष बदलकर जनता के बीच में अपने बारे में व अपने शासन की मजबूतियों–कमजोरियों पर राय जानने व व्यवहार देखने जाया करते थे ताकि उचित कदम उठाये जा सकें और उनके राज के प्रति लोगों मे जनाक्रोश कम हो। यह मध्यकालीन हिन्दुस्तान में जनता तक पहुंचने का, न्याय करने का तरीका था।

आज हम लोकतंत्र के जमाने में हैं। हमारे पास जनता द्वारा चुनी हुई सरकार के साथ–साथ प्रदेशों व जिलों के स्तर पर सिलसिलेवार, प्रचलित शब्दावली में कहें तो चुस्त–दुरस्त, सभ्य, पढ़ी–लिखी (आजकल पढ़ा–लिखा होना ही शिक्षित होने का पर्याय माना जाता है) प्रशासनिक जमात है। इस प्रशासनिक जमात व उसके ढांचे को समझने के लिए इतिहास पर नजर डालने की आवश्यकता पड़ेगी। इतिहास हमें बताता है कि जब अंग्रेजों को यह आश्वस्ति हो गयी कि हम हिन्दुस्तान में स्थायी रूप से राज कर सकते हैं तो इसके लिए उन्हें एक मजबूत प्रशासनिक ढाँचे की जरूरत पड़ी। प्रांतों व जिलों के स्तर पर नौकरशाही की एक फौज तैनात की गयी। तमाम तरह के विभागों को चलाने के लिए एक अफसरशाही की आवश्यकता पड़ी जिसे 'इंडियन सिविल सर्विस' कहा गया। ताकि तमाम तरह का नियंत्रण व्यवस्थित रूप से किया जा सके। आजाद हिन्दुस्तान में भी यह औपनिवेशिक ढांचा ज्यों का त्यों बना रहा। बस एक शाब्दिक बदलाव जरूर हो गया। पहले आई.सी.एस. था अब आई.ए.एस. है। 'सी' की जगह 'ए' हो गया। तमाम नीतियों व कामकाज के ढांचे को क्रियान्वित करने वाली इस व्यवस्था का भी मूल्यांकन करना आज

आवश्यक है क्योंकि व्यापक समाज में लोकतंत्र के मूल्यों के प्रवाह व ठहराव दोनों स्थितियों के लिए यही नौकरशाही जिम्मेदार है। जनकल्याणकारी नीतियों को धरातलीय स्तर पर क्रियान्वित करने वाली इस प्रशासनिक सेवा का क्या हाल है इसकी एक झलक मुझे तब मिली जब 1999 में मैं मसूरी स्थित एक गांधीवादी शिक्षण संस्थान में अध्ययनरत था। वहां हर वर्ष लाल बहादुर शास्त्री एकेडमी, मसूरी से आई.ए.एस. सेवा का प्रशिक्षण ले रहे बैच आते थे; उस साल भी आये। उस दौरान संस्थान के मुखिया वहां नहीं थे। आई.ए.एस. के प्रशिक्षु इन लोगों से बातचीत के दौरान संस्थान के एक साथी ने जब संस्थान में चल रही वैकल्पिक शिक्षण की खोज की प्रक्रिया से इनको अवगत कराना चाहा तो वो बीच में ही इतने आक्रोशित हो गये कि कुछ सुनना तो दूर रहा बल्कि सारे लोग अलग–अलग अपनी जगहों पर जोर–जोर से बोलने लगे कि आप लोगों की शैक्षिणक योग्यता क्या है? तुमको इस संस्थान में तनख्वाह कितनी मिलती है? तुमको एजुकेशन पर काम करने का अधिकार किसने दिया है? इत्यादि इत्यादि। बोल रहे साथी चुप हो गये क्योंकि इन लोगों को जवाब नहीं सुनना था। जवाब ही क्या, कुछ भी नहीं सुनना था। हम तो विद्यार्थी थे हमारा चुप रहना हमारी मर्यादा का हिस्सा था। हम उन्हें भी समझना चाहते थे। ये सब बातचीत के बाद उनसे उस वक्त संवाद संभव न था। जब चर्चा कक्ष से बाहर आये तो मैं बाहर खड़ा था। उनमें से दो–तीन लोग मेरे पास आये और एक अकड़ के साथ बोले, तुम यहां क्या करते हो? मैंने संक्षिप्त सा जवाब दिया कि अध्ययन करता हूं। उनमें से एक तपाक से बोले कि यहां तुम्हारा ब्रेनवॉश किया जा रहा है। न चाहते हुए भी मेरे मुंह से निकल गया कि हमारा तो ब्रेनवॉश किया जा रहा है, लेकिन आप लोगों का क्या किया जा रहा है; वो अब कुछ–कुछ समझ में आ रहा है। उसके बाद वे कुछ बोल नहीं पाये क्योंकि यह अपेक्षित जवाब न था। इसके अतिरिक्त बोलना मुझे भी अपनी मर्यादा के खिलाफ लगा। मैं वहां से चला गया पर ये घटना मेरे सोच के हिस्सों में काफी समय तक चलती रही। मन में एक तरह का आक्रोश भर गया कि क्या समझते हैं ये लोग अपने आप को और क्या समझते हैं अन्य लोगों को। मुझे लगा कि जैसे उनको लगता हो कि हम ही सुपीरियर हैं बाकी मूर्ख हैं। उनको कुछ समझ में नहीं आता। पर मेरा ध्यान इससे इतर इस बात पर गया कि अपने इतर लोगों को 'पशुतुल्य' समझने वाले इन लोगों का दिमाग ऐसा कैसे बनता है, क्या सिखाया जाता है इनको ऐसा। तब ध्यान इस तरफ धीरे–धीरे जाने लगा कि जिस तरह की शिक्षा इनको दी जा रही है जो पढ़ाया जा रहा है कि लोगों को कैसे हैण्डल करना है, नियन्त्रित करना है, ये उसी की देन है। 'आधुनिक' नाम से प्रचारित शिक्षा का सबसे बड़ा कसूर ये है कि वह ऐसा संस्कार मन में बिठा देती है जिससे आदमी ये मानने लगता है कि पढ़ाई–लिखाई ही दुनिया को समझने का एकमात्र रास्ता है, इसके अलावा जो है वो पिछड़ा है, असभ्य तरीका है, अनर्गल है, अप्रमाणित है इत्यादि। इससे यह बात ध्यान में ही नहीं आती कि जिन्दगी व दुनिया को समझने के और भी तरीके हो सकते हैं। पढ़ाई–लिखाई भी उसमें से एक तरीका है। अन्यथा यदि यही सत्य होता तो पढ़े–लिखे लोगों ने इस दुनिया को आज तक स्वर्ग बना दिया होता। पर सत्यता इसके ठीक विपरीत है। जो तथाकथित पढ़ा–लिखा है वो अपने ज्ञान के ऐसे अहंकार में है कि उसे ये दिखाई

नहीं पड़ता कि जो सूचनायें उसके पास हैं उसके अलावा भी ज्ञान का व्यापक क्षेत्र है। यदि हम पढ़े–लिखे की जमात द्वारा किये गये दुनिया के नुकसान व गैर पढ़े–लिखों द्वारा किये गये नुकसान को देखेंगे तो इस तंत्र की एक और तस्वीर समझ में आयेगी। साथ ही हम पढ़ाई–लिखाई को जितना उसका स्थान है, उतना देख पायेंगे। कम या ज्यादा न आंककर। अब पढ़ाई–लिखाई द्वारा दिमाग एक खास तरह की दिशा में सोचने के लिए तैयार किया जा रहा है। शायद इसी को 'ब्रेनवॉश' कहते हैं। अन्यथा किसी अन्य के सत्य को भी सुनने की क्षमता आ गयी होती और 'सामान्य आदमी' जिसको इस व्यवस्था में नीचे पायदान पर माना जाता है उसके प्रति भी व्यवहार में उदारता व विनम्रता आ गयी होती। ये मानसिकता हमें ब्रिटिश काल में विरासत में मिली है। अब हम मानसिकता के लोग प्रशासनिक सेवा में, जो उन्हीं लोगों के लिए है, जिनके बारे में इनकी राय इस दर्जे की है तो कैसी व्यवस्थाएं संचालित होंगी ये सोचनीय विषय है। क्योंकि लोकतांत्रिक व्यवस्था में नीतियों के क्रियान्वयन की पूरी जिम्मेदारी इस तबके पर है और जहांगीर की अवाम के प्रति न्याय पद्धति को ये पिछड़ापन मानेंगे, असभ्य तरीका मानेंगे।

मैं 'गरीबी' के प्रति सचेत हूं और अपनी नई–नवेली सरकार द्वारा घोषित 'गरीबों की सरकार' शब्दावली के प्रति आकर्षित हूं। मैं इस घोषणा से आशान्वित हूं इसलिए लोकतंत्र के इस महत्वपूर्ण ढांचे (नीतियों, पद्धतियों, जनकल्याणकारी योजनाओं) को लोगों तक यानी गरीबों तक पहुंचाने वाली महत्वपूर्ण इकाई प्रशासनिक तंत्र को नजरअंदाज नहीं कर सकता। इसलिए इस देश की 'प्रशासनिक गरीबी' पर मेरा स्वाभाविक रूप से ध्यान चला जाता है। मैंने अपने अग्रजों से सुना है कि भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गांधी जी ने कभी कहा था कि "हम विकास हेतु 1 रुपया भेजते हैं और गांव तक पहुंचता है केवल 25 पैसा"। मुझे शब्दशः याद नहीं पर सार यही है। मैंने इस पर सोचा कि ऐसा कैसे हो सकता है। अब पहुंचाने वाले तंत्र पर ध्यान दिया गया। पहुंचाने वाला तो प्रशासन ही है। यदि गांव व गरीब तक 75 पैसे नहीं पहुंचा तो वो गया कहां ये भी सवाल हैं भ्रष्टाचार पर तमाशा खड़ा करने वालों का ध्यान इस तरफ भी जाना चाहिए। इसकी तफसील में मैं नहीं जाना चाहता, कारण मुझे नहीं पता कि 75 पैसा कहां गया। उन्हें ज्यादा पता होगा जिनके हाथ में राजीव जी ने गांव–गरीब तक पहुंचाने के लिए 1 रुपया पकड़वाया था। अब 1 रुपये का ये हाल हुआ तो करोड़ों का क्या होता होगा मेरी समझ से बाहर है क्योंकि अपनी रोजी–रोटी का संघर्ष मुझे इस आंकडे तक सोचने नहीं देता। यह तो रही विकास नीति की बात। अब सामान्य व्यक्ति (गरीब नागरिक) के प्रति व्यवहार के स्तर पर देखें कि इस समाज में तमाम नीतियों को संचालित करने की जिम्मेदारियों के पद पर बैठे लोग, जिहें हम 'अफसर' कहते हैं, उनका रवैया व्यवहार गरीब आदमी के प्रति कैसा है? देखें तो पता चलेगा कि उसे ऐसा लगता है जैसे वह, राजा है और प्रजा 'गरीब नागरिक' है, याचक है, भिखारी है। वह चाहे तो उन पर कुछ कृपा कर सकते हैं, अहसान कर सकता है न चाहे तो उसकी मर्जी। हमारे गांव का एक 'गरीब नागरिक' पटवारी के पास जाता है, तहसील ब्लॉक में कुछ काम के लिए जाता है; (जिलाधीश का हम यहां जिक्र नहीं कर रहे क्योंकि गरीब नागरिक की उस तक पहुंच एक दिवास्वपन ही है कि वो बिना किसी झिझक

ऑफिस में जाकर बात कर सकें) कुछ मामूली जमीन संबंधी, या मामूली झगड़े से संबधित व पेंशन इत्यादि संबंधी काम हेतु तो प्रशासनिक कर्मचारी का रवैया एवं बातचीत का तरीका जगजाहिर है। यह कहने में ज्यादा अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उससे 'पशुतुल्य' व्यवहार की गुंजाइश ज्यादा रहती है। वहां 'पशुतुल्य' कहने का अर्थ पशुओं को कमतर आंकना नहीं है। बल्कि व्यवहार की तुलना दिखाना भर है। इससे 'पशु' घटिया नहीं हो जाता बल्कि हमारी चेतना पर प्रश्नचिन्ह उठता है कि लोगों के प्रति संवेदनशीलता का ये स्तर है तो पशुओं के प्रति कैसा होगा, अंदाजा लगाया जा सकता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में हर व्यक्ति केवल व्यक्ति नहीं होता एक सम्मानित नागरिक होता है लेकिन वह नागरिक की हैसियत से तो दूर रहा, सामान्य मनुष्य समझने की भी भूल प्रशासनिक कर्मचारी–अधिकारी कर दें तो गनीमत समझी जायेगी; जो लोगों की सुविधा के लिए ही नौकरी कर रहा है।

यह तो रही सामान्य कर्मचारी की बात; अब आई.ए.एस. अधिकारी, जिसको सर्वयोग्यता गुण संपन्न माना जाता है। प्रशासनिक ढांचा उसके निर्देशन पर चल रहा है; जिसमें भ्रष्टाचार तो है ही, सही समय पर लोगों की जरूरतों को पूरा न कर पाने की अयोग्यता के साथ–साथ व्यवहार का अजनबीपन भी है। जिसके कारण 'गरीब नागरिक' इस तंत्र से भयभीत रहता है और यह दुआ करता है कि इनसे कभी पाला न पड़े। आश्चर्य यह है कि यही तंत्र लोगों की सेवा के लिए बना है। यह मैं नहीं कह रहा वह तो 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' में आये 'सेवा' शब्द से स्पष्ट होता है पर यहां 'सेवक' का धर्म व नौकरी का कर्तव्य भूलकर स्वयंभू मालिकी का रौब यत्र–तत्र दिखाई देता है। जन सामान्य के प्रति इस असंवेदनशीलता के चलते इस तंत्र से क्या अपेक्षा की जा सकती है। फिर ऐसे में हमारी लोकतांत्रिक सरकार का क्या अर्थ रह जाता है यह सवाल उठता है। दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र का ढ़ोल बजाने वाले लोगों के लिए भी यह एक सवाल है। हमारी सरकार है का मतलब भी यहां से समझ में आना चाहिए।

हम सरकार को ढूंढने–खोजने जायें तो हमारे हाथ लगता है 'अधिकारी–कर्मचारी'। जनसामान्य के लिए वही सरकार है जो नियम, कानून, विभाग की आड़ में लोगों पर राज करते हैं क्योंकि यह वर्ग, शासक व आवाम के बीच तमाम नीतियों को क्रियान्वित करने हेतु पुल का काम करता है। इसके और आवाम के बीच क्या संबंध हैं इस पर योजनाओं की सफलता–असफलता निर्भर करती है। यह तंत्र नियम, कानून, नीतियों का अपने ढंग से अर्थ निकालकर लोगों पर लागू करने के लिए स्वतंत्र है। हमारे बीच में, सामान्य जनता के बीच में सरकार के प्रतिनिधि के रूप में जो आदमी है, वह अधिकारी ही है। जो हमें सरकार के अच्छे–बुरे होने का अहसास कराता रहता है। उसे धौंस के अधिकार के साथ लोगों का अपमान करने व उन पर कृपा दृष्टि बनाने का मनमाफिक अधिकार प्राप्त है। 'जनता का शासन' की जगह 'जनता पर शासन' इस बीच के मध्यकर्ता द्वारा ही हो रहा है। इस प्रशासनिक ढांचे के निकम्मेपन के कारण लोग हमेशा इसके खिलाफ संघर्ष करने को बाध्य हैं। पर जनता हमेशा सड़कों पर नहीं उतर सकती लोगों को जीना भी होता है। जीवन–जीविका की भी फिक्र करनी होती है। लोकतंत्र के चार स्तंभों में से एक स्तंभ

'प्रशासनिक ढांचा' है। पहले स्तंभ 'शासन प्रणाली' (व्यवस्थापिका) को जनता अपने वोट के अधिकार, अपनी भागीदारी के द्वारा चुनती है। बाकी के तीन पाये किसी जन भागीदारी, लोकतांत्रिक प्रक्रिया से चुनकर नहीं आते बल्कि वो किसी अन्य विधि से इस व्यवस्था मे आते हैं और जिन विधियों–शिक्षण प्रणालियों के तहत जिन उद्देश्यों से ये व्यवस्था में आते हैं, उन पर गौर फरमाने की आवश्यकता है क्योंकि विकासशील देशों के प्रशासन का अनुभव कुछ–कुछ वैसा ही है जैसा औपनिवेशिक काल में औपनिवेशिक प्रशासन का था। बस इसमें एक तब्दीली आ गयी है वह यह कि गुलामी के काल में इस तंत्र के आका अंग्रेज थे, उनको डर के कारण काम करना पड़ता था; अब आका हिन्दुस्तानी हैं। उनमें से ज्यादातर प्रशासनिक अधिकारियों से योग्यता में खुद को कम समझते होंगे तो उनके प्रति हीन भावना का शिकार हो जाते होंगे। इसलिए निर्देश देने का काम आसान नहीं रह जाता। संभव है कि शासक वर्ग, प्रशासन की हाथ की पतंग बन जाए व डोर इनके हाथ में हो। आजादी के बाद इस तरह से अपने आकाओं का डर प्रशासनिक तंत्र से निकल चुका है। उनको पता है कि हर सरकार पांच साल की मेहमान है पर उनकी तो लाइफटाइम की नौकरी है। यही कारण है कि आजाद हिन्दुस्तान का प्रशासन सामान्य नागरिक के प्रति अपना बातचीत का व्यवहार भी सम्मानजनक नहीं कर पाया है, अन्य व्यवस्था को तो छोड़ें।

आजाद हिन्दुस्तान में इस ढांचे को ज्यों का त्यों बनाये रखना मजबूरी नहीं थी पर फिर भी यह जारी रहा। उसी रूप में ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। जनप्रतिनिधि तो केवल पांच साल के लिए चुना जाता है परन्तु एक प्रशासनिक व्यक्ति को उसकी उम्र सीमा तक झेलना हमारी बाध्यता है और उसकी मानसिकता जनसाधारण के मनों पर बोझ ही है। तो फिर व्यवस्थाओं के लोकतंत्रीकरण का क्या अर्थ रह जायेगा? ऐसी मानसिकता के लोग जो ये मानते हैं कि जनसाधारण को अपनी व्यवस्थाओं, समाज बंदोबस्तों को चलाने की सहूर–काबिलियत नहीं है तो उनका व्यवहार निहायती रूप से इसी ढंग का होगा।

इन तमाम तरह की विसंगतियों को देखते हुए जब मैं मूल सवाल पर लौटता हूं कि वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था में 'प्रशासनिक गरीबी' को प्रशासनिक लोकतंत्र में बदलने के लिए किस तरह कदम उठाये जाने चाहिए तो उसकी एक धुंधली तस्वीर मेरे मन में कौंधती है। इसको समझने के लिए मैं एक सामान्य व्यवस्था का सहारा लेता हूं। मैं पहाड़वासी हूं ; यहां यातायात की सुविधा का सबसे महत्वपूर्ण साधन 'बस' है। 'बस' को चलाने वाले दो हिस्से हैं; एक ड्राइवर, दूसरा कंडक्टर बाकी सब यात्री हैं। ड्राइवर माना शासक वर्ग है, कंडक्टर प्रशासनिक अधिकारी और यात्री हैं सामान्य नागरिक। ड्राइवर के पास यह जिम्मेदारी है कि वह हर पड़ाव पर मिलते रहे यात्रियों को बिना किसी भेदभाव के बस में बिठाये और गंतव्य तक पहुंचाए। यहां गौरतलब है कि गन्तव्य ड्राइवर का नहीं बल्कि यात्री का है। यात्री को उसके गन्तव्य तक पहुंचाने का दायित्व कंडक्टर का है। यात्री ने पैसा दिया और बदले में कंडक्टर ने उसे टिकट दिया तुरंत हाथों–हाथ, अब यात्री अपने गन्तव्य तक जाने के लिए अधिकृत हो गया। ये एक साधारण सी बात है क्योंकि मैं साधारण आदमी हूं जटिलताओं से चीजों को देखना मुझे स्वीकार्य नहीं होता।

अब लोकतंत्र के दो पायों को ध्यान में रखकर देखें तो ड्राइवर नामक शासक की जिम्मेदारी है कि वह समाज की आर्थिक सामाजिक हालातों को ध्यान में रखकर यात्रियों को गन्तव्य तक सुरक्षित पहुंचाये। यहां सुरक्षा का अर्थ आर्थिक–सामाजिक सुरक्षा ही होगा। कंडक्टर रूपी प्रशासन जनसाधारण रूपी यात्रियों के गन्तव्यों की समझ रखकर उनको गन्तव्य तक पहुंचने में सहयोग करे। जिस तरह कंडक्टर बिना बिलंब यात्री द्वारा बताये गये गंतव्य तक पहुंचने के लिए उसे अविलंब टिकट मुहैया कराता है। क्या हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में समझदार प्रशासनिक तंत्र ऐसा कर पा रहा है। क्या जब कोई गरीब आदमी किसी संबंधित अधिकारी के पास अपने मामूली से काम को लेकर (मान लिया कि पेंशन के लिए) जाता है जो उसका अधिकार है तो क्या तत्संबंधी विभाग उस पर अविलंब कार्रवाई कर रहा है? अभी हाल की घटना है, हमारे गांव के एक वृद्ध ने पेंशन के लिए कितने चक्कर लगाये, बैंक से लेकर तत्संबंधी विभाग तक के। आखिर में वे बिना पेंशन मिले उसी के इंतजार में दुनिया से विदा हो गये; यह एक उदाहरण है। हमारी तो अपेक्षा है, प्रथम अपेक्षा कि उस वृद्ध से सम्मानजनक ढंग से बातचीत कर लें तो उसे लगेगा कि उसे आधी पेंशन मिल गयी है और इस तंत्र में उसकी भी बात सुनी जाती है, उसकी बात का कोई महत्व है।

हमारा यह कहना है कि जैसे बस के यात्री को बिना किसी विलंब के सम्मानजनक ढंग से बस का टिकट मिल जाता है वैसे ही जनता की सामान्य जरूरतों पर तुरंत कार्रवाइयां होनी चाहिए। सामान्य से काम के लिए लोगों को बार–बार कार्यालयों–अधिकारियों के चक्कर न काटने पड़े क्योंकि लोगों को अपनी अन्य जरूरतों की भी चिंता करनी होती है। और गांव–घरों में सामान्य अपराध के निपटारे के लिए पुलिस–प्रशासनिक अधिकारी अपनी अकड़–रौब का नहीं बल्कि निष्पक्ष होकर 'पंच' की तरह काम करें और झगड़ा स्थानीय स्तर पर निपटायें। कोई भी शासन की जनकल्याणकारी नीति, योजना किसी इलाके में लागू होती है तो उससे पहले क्षेत्र के बहुसंख्य लोगों की राय प्राप्त कर ली जाए खासकर उन लोगों की राय जिनकी जीविका उसी क्षेत्र की स्थिति पर निर्भर करती है। यह उस जिले के अधिकारी की जिम्मेदारी होनी चाहिए कि वह उस क्षेत्र का व्यापक सर्वेक्षण कराए व खुद जाकर लोगों की बात सुने न कि अपने निर्णयों को जाकर थोपे। जो क्षेत्र के लिए जरूरी हों वो कदम सहभागिता के साथ उठायें जायें। क्षेत्रों में मनमानी योजनायें थोपने से जो परिणाम हुए हैं उनका मानवीय–सामाजिक–प्राकृतिक रूप से आंकलन किया जाए। ये जिम्मेदारी प्रशासनिक वर्ग की बनती है।

गांधी जी ने कहा था कि राजनीतिक आजादी के बाद भारत के प्रशासन को भी बदलना होगा। क्योंकि एक लोकतांत्रिक समाज व स्वराज की तरफ काम करने की दिशा में औपनिवेशिक प्रशासनिक ढांचा परलोकगामी ही साबित होगा। अगर यही प्रशासनिक ढांचा जारी रहा तो सामान्य नागरिक को यह अहसास ही नहीं होगा कि उसको भी आजादी मिली है। नियम, कानूनों से जकड़ा व विकास की आड़ में वो हमेशा छला जाता रहेगा। इसलिए पूरे प्रशासन तंत्र को हमें 'सेवक' तंत्र के रूप में बदलना होगा। प्रशासनिक सेवा के वास्तविक अर्थ को सार्थकता प्रदान करनी होगी। उन्होंने कहा था कि हम अब विनम्र सेवक

की भांति गांव में जाकर काम करें; लाट साहब की तरह नहीं, ताकि लोगों के अनुभवों को समझकर और यदि हमारे पास कुछ साझा करने योग्य ज्ञान है तो विनम्रतापूर्वक उसे भी बांटकर परस्पर साझेदारी–संवाद से हम स्वराज का तंत्र विकसित कर सकें। वह समय आ गया कि अपना ज्ञान बाजू में रखकर लोकतांत्रिक अवसरों को लोकतांत्रिक समाज (स्वराज) में तब्दील करने हेतु इस तरह की प्रशासनिक सेवकत्व की इकाइयों को खड़ा किया जाए। प्रशासनिक अधिकारी शासक की जगह विनम्र शोधार्थी की भूमिका ज्यादा निभायें। यह देखें कि हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था को समृद्ध बनाने के लिए उनके क्षेत्र में क्या–क्या अवसर मौजूद हैं और उनको कैसे समाजोपयोगी बनाया जा सकता है।

जब मैं एक वैकल्पिक शिक्षण संस्थान में अध्ययनरत था तो हमारे अध्यापक ने हमको 4–5 दिन के लिए बिना किसी पैसे व सामान के गांवों में भेज दिया था कि जाओ और समझो व्यवस्थायें कैसे चलती हैं और खाना लोगों से मांगकर खाओ; हमने यह किया। शुरू–शुरू में बहुत झिझक महसूस हुई परंतु बाद में वो जो अपने कुछ अलग होने को अहंकार था वो जाता रहा और मन में एक तरह की विनम्रता का भाव पैदा हुआ। क्योंकि कितने तरह के लोगों की प्रतिक्रियाओं से साबका पड़ा और हमें अपने ज्ञान को जांचने का अवसर मिला। हमारे प्रशासनिक तंत्र में पढ़े–लिखे, संभ्रान्त माने जाने वाले तबके में जो अतिरिक्त शासनकर्ता का भाव आ गया है उसके लिए तो जरूरी है कि वे 'सेवकत्व' स्वीकार करें। यह प्रशासनिक लोकतंत्र की अनिवार्य आवश्यकता है। यदि वाकई कोई श्रेष्ठता व काबिलियत है तो उसको भी क्रियान्वित करने का बेहतरीन मौका है, प्रमाणित करने का अवसर है। लोकतंत्र को मजबूत–समृद्ध करने का श्रेय भी इस तंत्र को जायेगा। यह प्रशासनिक तंत्र के लिए ऐतिहासिक व अविस्मरणीय होगा इससे उसे अपने किताबी ज्ञान की जकड़न और सीमा से भी मुक्ति का अहसास होगा। प्रशासनिक तंत्र के लिए भविष्य का स्वरूप इस रूप में दिखता होगा ताकि एक भारतीय लोकतांत्रिक प्रशासन की बेहतर नींव डाली जा सके। दूसरा एक और पहलू जिसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं वह यह कि हम नीति–निर्धारकों को तो, लोगों की वोट की भागीदारी द्वारा चुनते हैं पर किसी भी प्रशासनिक कर्मचारी या अधिकारी के लिये ये प्रक्रिया लागू नहीं होती उसके लिए कुछ निश्चित योग्यताओं का होना मान्य होता है। उस योग्यता को हम विविध शिक्षण संस्थानों द्वारा प्रदान किये गये सर्टिफिकेट को मानते हैं उन्हीं के आधार पर विश्वास कर किसी को तंत्र के क्रियान्वयन के लिए प्रमाणित मान लिया जाता है। जो हमारे प्रशासन के साथ हुए अनुभवों से मेल नहीं खाता है। औपनिवेशिक प्रशासनिक मानस में निर्मित अधिकारी जब हिन्दुस्तान जैसे विविधतापूर्ण, लोकतांत्रिक समाज की तरफ गति कर रहे समाज में नीतियों के क्रियान्वयन हेतु आता है तो वह इसकी समझ की कमी के कारण केवल औपनिवेशिक शासक की तरह ही अपनी भूमिका देखने लगता है। दूसरी तरफ शासक वर्ग के मूल्यांकन की प्रक्रिया हमारे पास मौजूद है भले ही पांच साल की प्रक्रिया हो। पांच साल बाद हम अपने मत की भागीदारी के जरिये जन प्रतिनिधियों को बदल सकते हैं। पर प्रशासन के साथ ऐसा नहीं है। इसलिए वह ज्यादा ढीठ है। 'कोउ नृप आये, हमें का हानी' यह उक्ति उसके लिए सटीक बैठती है। उसकी नौकरी सरकार की तरह बदलती

नहीं है। इसलिए प्रारंभिक तौर पर इस तंत्र की दुरूस्ती के लिए आवश्यक है कि केवल शिक्षण संस्थानों के भरोसे न छोड़कर एक लोकतांत्रिक जवाबदेही की प्रक्रिया के तहत एक आचरण संहिता प्रशासनिक तंत्र के लिए बननी चाहिए। ताकि 'गरीब नागरिक' को किसी भी तरह का भ्रष्ट कर्मचारी–अधिकारी हमेशा न झेलना पड़े और सामाजिक अपेक्षाओं–दबावों में उसको खुद को इस जिम्मेदारी के योग्य बनाने का भी अवसर मिलता रहे। उसके लिए भी लोकतंत्र उसकी उन्नति में सहायक हो। इसके तहत किसी कर्मचारी अधिकारी को भी उसके जिम्मेदारी के पद पर काबिज हो जाने के बाद 5 साल का समय दिया जा सकता है। इसमें उस क्षेत्र के विभिन्न समाज वर्गों के प्रतिनिधित्व वाली कमेटी हो जो ये देखे कि उक्त अधिकारी ने कितनी जिम्मेदारी से कार्य निवर्हन किया। यह कमेटी अनौपचारिक रूप से गठित की जा सकती है। उस क्षेत्र व कार्य से संबंधित लोगों की कितनी समस्याओं का निदान किया, किस तरह का व्यवहार जनसामान्य के प्रति रहा। किन कल्याणकारी योजनाओं को उक्त क्षेत्र में सफल कार्यान्वित किया? इत्यादि मिलाकर एक 'जन आचरण संहिता' या 'लोक आचरण' संहिता बनाई जा सकती है। इस तरह की जवाबदेही में खरा न उतरने पर कार्रवाही की जाए कि वह आगे तत्संबंधी प्रशासनिक कार्य को करने योग्य है कि नहीं। इस तरह की जवाबदेही की कार्रवाही से वर्तमान प्रशासनिक तंत्र को जिम्मेदार भागीदारी के लिए मुस्तैद किया जा सकता है। एक और महत्वपूर्ण सवाल भाषा का है; हमारे प्रशासनिक तंत्र में शीर्ष स्थानों पर बैठे लोग अंग्रेजीदां है जिससे देश की बहुसंख्य जनता से उनका कोई जुड़ाव नहीं हो पाता। जिनके लिए अंग्रेजी भाषा जीवन की तमाम योग्यताओं व समस्याओं के निदान की जादुई छड़ी है पर दुर्भाग्य से यह प्रमाणित नहीं हो पाया है। इसलिए यह अनिवार्यता की जा सकती है कि कोई भी अधिकारी वर्ग का नागरिक जहां भी तैनात है वह वहां की स्थानीय भाषा में ही लोगों के साथ संवाद करें। प्रशासनिक कार्यों व मानसिकता का हिन्दुस्तानीकरण का यह भी एक रास्ता है। क्योंकि भाषा केवल भाषा नहीं बल्कि संस्कृति की वाहक भी है इसलिए संस्कृतीकरण का प्रश्न भी इससे जुड़ता है। नागरिकों के नीति संबंधी तमाम कागजात उस भाषा में होने चाहिए जिसके साथ उसका दैनन्दिन व्यवहार चलता है। इसलिए क्षेत्रीय भाषायी योग्यता इसका एक और पहलू हो सकता है। ताकि नीति, नियम, सर्वजनगामी, सर्वजनग्राही हो सके अन्यथा लोकतंत्र का अर्थ ही क्या रह जायेगा। क्योंकि हमारा मूल सवाल यह है कि एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में, विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र में नागरिक सम्मान, प्रतिष्ठा, भागीदारी व समृद्धि बढ़े, इसके लिए हमारा प्रशासन का ढांचा कैसा होना चाहिए। सामान्य नागरिक को कब लगेगा कि प्रशासनिक जमात हमें सताने के लिए नहीं बल्कि सहयोग के लिए है। 'सामान्य नागरिक' के प्रति इस तबके का व्यवहार भी बातचीत में सम्मानजनक हो जाये तो इस देश के करोड़ों लोगों; अख्तर, कौशल्या देवी, पॉल, श्याम लाल, सदानंद, जसवंद... को लगेगा कि वह एक लोकतांत्रिक समाज में कल्याणकारी प्रशासनिक व्यवस्था के साथ जी रहा है, जिमसें उसका सामाजिक व आर्थिक हित सुरक्षित है। प्रशासनिक कर्मचारी को, 'सेवक' को भी लोकतंत्र की शक्ति का आभास होगा। अन्यथा वर्षों से सामाजिक–आर्थिक स्तर पर पहले से एक विभाजन की विषमता को झेल रहे समाज के लिए, नई आर्थिक नीतियों के दबाव

में जीविका के संकट व प्रशासनिक तंत्र की असंवेदनशीलता, कई अन्य तरह की सामाजिक विषमताओं को पैदा कर सकती है, जिसकी बड़े पैमाने पर शुरूआत हो चुकी है। समाज विभाजन इस कदर बढ़ रहा है कि संकट के समय में साथ देने वाली परंपरायें तेजी से नष्ट हो रही हैं। नागरिक समाज का एक हिस्सा अपने ही समाज में अजनबीपना, बेगानापन महसूस कर रहा है। उसके पास अच्छे दिनों के इंतजार के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। अन्यथा बुरे दिन तो सूर्योदय के साथ ही रोज बाहें पसारे खड़े हैं।

क्या हम गरीबों की हितैषी सरकार से ये अपेक्षा रख सकते हैं कि वह बेहतर लोकतंत्र के लिए प्रशासकीय ढांचे को अधिक समाजोपयोगी, गरीबोन्मुखी, संवेदनशील व जवाबदेह बनाने हेतु आवश्यक कदम उठायेगी। ताकि तमाम नीतियां, नियम, गरीबजनगामी हो सकें। राजयुगीन समाज में राजा व अवाम के बीच रिश्ते व न्याय की जहांगीरी कसौटी थी; जहां सीधा जुड़ाव दिखता है। आज लोकतांत्रिक समाज में, जनप्रतिनिधियों, प्रशासनिक इकाइयों व अवाम के बीच के रिश्ते व सहयोग की क्या कसौटी हो। जिससे गरीबों को भी यह महसूस हो कि वे राजशाही नहीं बल्कि अपनी भागीदारी द्वारा चुनी गयी लोकतांत्रिक सरकार व जनकल्याणकारी प्रशासन के साथ जी रहे हैं। हमारी संवाद प्रक्रियाओं व चिन्ता का एक केन्द्रीय बिन्दु यह भी है क्योंकि गरीबी से इसका सीधा ताल्लुक है। गरीबों में आजादी की भावना पनपे इसकी संभव शुरूआत भी शायद इस बिन्दु से शुरू हो सकती है।

# एक गरीब की विनम्र चुनौती – तीन

यह संघर्षयुग है। हम निश्चित तौर पर संघर्ष के काल में रह रहे हैं। इससे पहले राजपरंपरा, गुरू परंपरा व ईश्वर परंपरा बहुत सुदृढ़ तौर पर थी। इनके आदेशों–उपदेशों से समाज के बहुसंख्य हिस्से के बंदोबस्त प्रभावित होते थे। फिर परिणाम व प्रभाव चाहे गलत हों या सही। समाज के बृहत तबके में उसकी एक मान्यता व आस्थागत स्वीकार्यता थी। भले ही वह स्वीकार्यता कम समझ के कारण ही क्यों न हो। आज यह स्वीकार्यता एक हद तक टूटी है क्योंकि समाज के हर तबके, हर हिस्से में बुद्धि का, कल्पना का एक विस्फोट हुआ है। समाज चेतना का हिस्सा प्रखर हुआ है। आज हम देख सकते हैं कि समाज का बहुसंख्य तबका जो गुलामी के युग में अपनी मानसिक स्वायत्तता खो बैठा था, उससे उबर रहा है। समाज के हर हिस्से में, हर तबके में अपने प्रति अपने अधिकारों, पहचानों और अस्मिताओं के प्रति एक चेतना उभरती हुई दिख रही है। जिससे प्रचलित समाज व्यवस्थाओं, बंदोबस्तों पर सवाल खड़े हो रहे हैं। ये सवाल, प्रचलित व पुरानी व्यवस्थाओं पर तो हैं ही साथ में इन बंदोबस्तों के पीछे जो मानसिकता, कई व्यवस्थाओं के खत्म होने के बाद भी बनी हुई है, उसके प्रति भी हैं। इसलिए जनाक्रोश पहले की अपेक्षा ज्यादा व्यापक दिखता है। इसी की देन है कि कमजोर व गरीब तबके भी अपने अधिकारों और अस्मिताओं की लड़ाई के लिए संगठित हो रहे हैं, लोग अपनी आवाज का महत्व समझने लगे हैं। भले ही उसका असर बहुत कम हो रहा हो पर एक संगठित आवाज का लोकतांत्रिक प्रक्रिया में अपने आप में महत्व है। कोई अवसर, कोई प्लेटफॉर्म उपलब्ध न हो पाने के कारण ये आवाजें वहीं रह जाती हैं, दब जाती हैं।

लोकतांत्रिक व्यवस्था एक अवसर है जो समाज के तमाम सवालों को जनभागीदारी के तहत मुखर होने का मौका देती है। यदि इसको आधार बात मान लिया जाए तो फिर वर्तमान सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था पर एक नजर डाल सकते हैं। इस संघर्षयुग का प्रथम विरोधाभास यह है कि आज समाज की व्यवस्था (परस्पर व्यवहार, आपसी रिश्ते, जीव व जगत के प्रति व्यवहार) वैसी ही दिखती है जैसी राजपरंपरा में थी लेकिन हमारा आर्थिक व राजनैतिक ढांचा बदल गया है। समाज व्यवस्था के लिहाज से हम आज भी राजपरंपरा, गुरू परंपरा व जाति की मानसिकता में हैं। जहां भिन्न जातियों के प्रति दृष्टिकोण, औरत के प्रति, परिवार के संबंधों के प्रति दृष्टिकोण ज्यों का त्यों बना हुआ है। लेकिन आर्थिक ताना–बाना बदल गया है। अर्थतंत्र के हिसाब से हम 'बाजारयुग' में हैं। जहां वस्तुओं का उत्पादन एक केन्द्रीकृत विशाल ढांचे के अन्तर्गत होता है और व्यापार के जरिये पुनः इन

वस्तुओं को वापस लोगों तक पहुंचाया जाता है। इस प्रक्रिया में कोई भी यह नहीं कह सकता कि यह उत्पादन हमारे इलाके का है, फलाने गांव का है, फलाने क्षेत्र का है। एक कोका–कोला पीने वाले सामान्य व्यक्ति को यह पता नहीं होता कि यह किन तत्वों से, किस विधि से, कहां बना हुआ है और शायद ही उसे इससे कुछ लेना–देना होता है। यह बात हर बाजार की वस्तु पर लागू होती है। एक सामान्य से नियम से बात बन जाती है कि आप चीज की कीमत भुगतान कीजिए व वस्तु प्राप्त कीजिए। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि उत्पादित की गयी वस्तु के लिए कच्चा माल किसी भी क्षेत्र के समाजिक–सांस्कृतिक, भौगोलिक ताने–बाने की परवाह किये बगैर कहीं से भी लिया जा सकता है। उक्त क्षेत्रों से विरोध का कोई स्वर उठने लगे तो वो आवाजें ये कहकर दबा दी जाती हैं कि ये विकास के लिए आवश्यक है, इसके बिना हम पिछड़ जायेंगे। विकास के लिए यह जरूरी है इत्यादि, इत्यादि। बहरहाल बाजारी उत्पादन ने मानवीय उत्पादन की मूल भावना से समाज का रिश्ता तोड़ा है। क्योंकि यहां उत्पादन का आधार स्थानीय संसाधन व परस्पर मानवीय सहयोग नहीं बल्कि मशीनों से है। बड़ी मात्रा में मशीनी उत्पादन से उस पर काम करने वाले लोग भी मशीनरी ही हैं। उनका इस बात से कोई ताल्लुक नहीं कि फलाने उत्पाद हेतु संसाधन कहां से आये, कैसे आये? और इससे वहां की स्थितियों पर क्या असर पड़ा होगा। "दुनिया के मजदूरों, एक हो जाओ", जैसे नारे यहीं से निकलते हैं। पहले लोगों को एक अर्थव्यवस्था के तहत मजदूर बनाओ, फिर उनसे क्रांति करवाओ, यह हास्यास्पद है। यह मनुष्य के उत्पादन संबंधों से रिश्ता न समझ पाने की भूल है और समरूप से मनुष्य की पहचान न कर पाने की अक्षमता भी है। अपनी अस्मिताओं की पहचान जिस रूप में होगी, समाज के बारे में भी कमोवेश वैसी ही मान्यतायें बनती हैं। अर्थतंत्र की बाजारयुगीन मान्यता ने वस्तुओं की, इकाइयों की मौलिक पहचान मिटाने का काम किया है। उनको केवल उपभोग की वस्तु के रूप में प्रचारित व प्रस्तुत किया है। जिससे मानव समाज अपनी आस–पास की इकाइयों– प्रकृति से कोई रिश्ता अनुभव नहीं करता है। इसलिए आज हमारा सांस्कृतिक ताना–बाना छिन्न–भिन्न हो रहा है। आज किसी प्राकृतिक परिवेश से बाहर रहने वाले बच्चे या व्यक्ति से पूछा जाय कि फलानी वस्तु कहां मिलती है तो उसका जवाब होगा कि बाजार में मिलती है।

भविष्य यह है कि यदि आप 20–25 साल बाद स्कूल में पढ़ने वाले किसी बच्चे से पूछेंगे कि हवा, पानी कहां मिलता है तो उसका जवाब होगा मार्केट में, बोतल में बंद बिकता है, मिलता है। ये हमारी वर्तमान अर्थव्यवस्था की सांस्कृतिक परिणिति है। उत्पाद की पहचान तो मिटी ही है, चीजों के प्रति मूल भावना भी मिट रही है; मनुष्य का उससे संपर्क व रिश्ता कमजोर होता जा रहा है। मानव समाज केवल उपभोक्ता है प्रकृति में उपलब्ध वस्तुओं का; जो उसे बाजार में उपलब्ध होती है तो ऐसे में प्रकृति, जीव, प्राणी संसार से किसी रिश्ते का प्रश्न ही कहां उठता है। बाजार, समाज को 'उपभोक्ता वर्ग' के रूप में तब्दील करता जा रहा है। इन वस्तुओं को पाने के लिए पैसा चाहिए। हो सकता है कभी हवा भी जिंदा रहने के लिए खरीदनी पड़े क्योंकि जिंदा रहना हमारा जन्मसिद्ध

अधिकार है और यह अधिकार प्राप्त करने के लिए हमें बाजार से बोतलबंद हवा खरीदनी पड़ेगी जो पैसे से ही प्राप्त हो सकती है। तो पैसा कमाने के लिए इसी अर्थव्यवस्था में आजीवन संघर्ष करना पड़ेगा। उत्पादित वस्तुओं की स्थानीय पहचानें खो रही हैं और साथ ही क्षेत्रीय उपलब्ध वस्तुओं के अंधाधुंध दोहन से उनकी कमतरी आंकी जा सकती है। लेकिन वहीं बाजार खूब फल–फूल रहा है, स्मृद्ध हो रहा है। व्यापार करने वाले लोगों के नाम धनपतियों की लिस्ट में उजागर हो रहे हैं। गरीब पहले अपने घर से, फिर गांव से, फिर इलाके से, फिर दुनिया से रूख्सत हो रहे हैं।

बाजारी तंत्र के अगुवा लोग अपनी समृद्धि को घटने नहीं देना चाहते क्योंकि कोई दूसरा उनसे आगे निकल जायेगा। ये प्रतिस्पर्धा उनको हमेशा किसी नई जगह पर संसाधन ढूंढने की चुनौती देती है। सरल शब्दों में ये ही आज की अर्थव्यवस्था है। जिसने भौगोलिक व भौतिक दूरियों को पाट दिया है। मशीन रूपी विज्ञान ने इसमें मदद की है; जिससे सब जगह से सब चीजों को इक्ट्ठा करने की क्षमता बढ़ गयी है। इस अर्थ में 'बाजार–मशीन–व्यापार–तथाकथित विज्ञान' की इस चौकड़ी ने जबरदस्त चमत्कार किया है और दुनिया में समतलीकरण ला दिया है या दुनिया का व्यापारीकरण, बाजारीकरण या साहित्यिक भाषा में कहें तो 'वैश्वीकरण' कर दिया है। इसी का उत्स है कि दुनिया की सब वस्तुएं सब जगह प्राप्त की जा सकती हैं, बस पैसा चाहिए। यह बाजार युग का लोकतंत्रीकरण है। दूसरी तरफ एक और चमत्कार हुआ है कि जहां से उक्त वस्तुओं को मूल रूप से प्राप्त किया गया वहां के नागरिकों के जीने के अधिकारों का हनन हुआ है। बड़ी मात्रा में संसाधन दोहन से प्राकृतिक संतुलन पर संकट उपस्थित हुआ है और साथ ही समाज के स्थानीय उत्पादन आधारित जो सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक बंदोबस्त थे उनका भारी मात्रा में नुकसान हुआ है। परिवार, गांव, समाज, परस्पर संबंधों का टूटना इसकी परिणिति का एक और हिस्सा है, जिससे बाजार का कोई लेना–देना नहीं। लेकिन जब मानवीय गरिमा–अस्मिता का प्रश्न खड़ा होगा तो इन सवालों से होकर गुजरना अनिवार्यता होगी।

अर्थव्यस्था का एक ढांचा इस वर्तमान बाजारीकरण की व्यवस्था से पहले भी था। ग्राम व ग्रामीण आधारित इस अर्थव्यवस्था में अलग–अलग हुनरों में लोग बिना किसी स्कूल–कॉलेज गये, कोई डिग्री–सर्टिफिकेट लिये निपुण होते थे। ये हुनर पीढ़ी–दर–पीढ़ी एक से दूसरे तक स्थानान्तरित होते गये। बुनकर, चर्मकार, लोहारी, शिल्पी, वैद्यगिरी, किसानी आदि काम–धन्धों में निपुण लोग इस अर्थव्यवस्था के अगुवा लोग थे। जिनकी बदौलत यह ग्रामीण आधारित स्वायत्त अर्थव्यवस्था अपने प्राकृतिक परिवेश में फल–फूल रही थी। जिसमें दूध बाजार में नहीं गांव–घरों में गाय से प्राप्त होता था। स्वावलंबी व्यवस्था के इस तंत्र को चलाने वाले लोग अपने धन्धों के प्रति ईमानदार लोग थे। लेकिन समाज में व्याप्त जातीय विभाजन के कारण इन धन्धों को व इन्हें करने वाले लोगों को सम्मानजनक स्थान नहीं मिल पाया। व्यापक समाज ने इनका पूरा लाभ तो उठाया पर इस अर्थव्यवस्था के अगुवा लोगों व हुनरों के प्रति हमेशा तिरस्कार व हीनता का भाव ही दिखाया।

वर्षों से अपने व अपने हुनरों के प्रति दुत्कार सह रहे समाज को जब समता के लिए किये गये लंबे संघर्षों के बाद इसके इतर अन्य धन्धों में अपनी निपुणता को आजमाने का अवसर लोकतांत्रिक समाज निर्माण की प्रक्रिया में मिला तो उत्पादित सामानों और भारी–भरकम वितरण तंत्र की आंधी में इस अर्थव्यवस्था के पैर डगमगा गये। बाजार उत्पादित सामान को अधिक प्रतिष्ठा मिलना भी इसका एक कारण है। प्राचीन जाति व वर्तमान बाजारी व्यवस्था के दबाव के चलते यह समाज अपने हुनर–कलाओं को छोड़ने के लिए मजबूर थे और हो रहे हैं। पारंपरिक जाति के दुत्कार व वर्तमान अर्थव्यवस्था के दबाव के कारण पीढ़ी–दर–पीढ़ी स्थानीय व ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर आधारित ये धन्धे लगभग मृतप्राय हैं। उनको चलाने वाले लोग जो कभी सामाजिक तरीके से भले ही निचले पायदान पर माने जाते रहे हों पर आर्थिक दृष्टि से समृद्ध समाज रहे होंगे; अब गरीब हैं। साथ ही नया आर्थिक तंत्र उनको अपनी अर्थव्यवस्था में जगह देने में पूरी तरह अक्षम साबित हुआ है। एक विषमता की व्यवस्था से दूसरी विषमता की व्यवस्था में पदार्पण यही उनकी नियति है। अब एक पारंपरिक धंधे से जीविका चला रहा परिवार या तो वर्तमान अर्थव्यवस्था में अपनी जगह पाने के लिए संघर्षरत है या अपनी नियति को किसी तरह भोगने के लिए मजबूर है। नई अर्थव्यवस्था व जातीय हिकारत की भावना के बीच समाज का ताना–बाना इतना बिखर गया है कि कोई इन लोगों को पुराने धंधों में लौटने को कहे तो यह कोरापन होगा।

तथाकथित सामाजिक परिवर्तनकारी लोग कभी–कभी ये बातें कहते सुनाई देते हैं। पर उनको यह समझ में नहीं आता कि इस अर्थव्यवस्था के ढांचे में यह संभव नहीं है। ऐसा कहना समाज में समग्र समता के सपने के बारे में समझ के अभाव की अभिव्यक्ति ही कहीं जायेगी। बाजार में उपलब्ध वस्तुओं की बहुतायत में स्वश्रम आधारित इस अर्थव्यवस्था का स्थान ढूंढना नासमझदारी ही कहा जायेगा। साथ ही परंपरागत समाज व्यवस्था को बदले बगैर यह संभव नहीं हो पायेगा। हमारा समाज इस तरह से स्वश्रम पर आधारित अर्थव्यवस्था के अगुवा लोगों के प्रति कृतघ्न भी बना रहेगा। अपनी पुरानी धार्मिक मान्यताओं से देखता रहेगा और साथ ही यह अपेक्षा करेगा कि ये धन्धे चले, ये विरोधाभासपूर्ण होगा। क्योंकि समाज के दबे–कुचले तबकों में भी अब चेतना के कुछ छीटें पड़ गये हैं। जहां से उनको यह विरोधाभास साफ नजर आने लगा है। जहां सम्मानित धन्धे की मान्यता होने के कारण 'पंडिताई का धंधा' अब भी चल रहा है। उसी तरह अन्य धन्धों के प्रति, उनको चलाने वाले लोगों के प्रति समाज का दृष्टिकोण बदला होता, मानवीय गरिमा के अनुरूप रहा होता तो आज ग्रामीण अर्थव्यवस्था, स्थानीय उत्पादों पर आधारित उद्योग–धन्धे अपने तमाम आवश्यक सुधारों के साथ पहले से ज्यादा समृद्धतम होकर फल–फूल रहे होते। पर इसके साथ समाज का दृष्टिकोण कभी बदला ही नहीं। इसलिए जैसे ही अत्यधिक मशीनी व बाजार व्यवस्था का पदार्पण हुआ वैसे ही इन लोगों ने अपनी मुक्ति की तलाश की, पर दुर्भाग्य कि यह मुक्ति सकल समाज की न होकर किसी खास वर्ग की साबित हुई है। जो वर्ग पहले की अर्थव्यवस्था में शीर्ष में था वही वर्तमान अर्थव्यवस्था में भी शीर्ष पर है;

उसकी पोजीशन पर खास असर नहीं पड़ा पर निचले पायदान का व्यक्ति रौंदा जा रहा है। वर्तमान अर्थव्यवस्था के चलते एक नये किस्म का 'श्रेष्ठतावाद', 'योग्यतावाद' दुनिया पर हावी हा रहा है। जो अपने पूरे जखीरे, तंत्र के साथ है। जिसमें विज्ञापन की मायावी दुनिया से लेकर सूचना क्रांति के नाम पर इंटरनेट का जाल; जिसके तहत ज्ञान की विविधता का समापन हो रहा है, वस्तुओं को उपलब्धता के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियां व एक खास वर्ग जो इस तंत्र को संचालित कर रहा है। इनका एक ही लक्ष्य है कि अधिक से अधिक वस्तुओं का संग्रह कर मुनाफा कमाना। फिर वह किसी भी तरीके से हो और इस राह में मनुष्य, जीव, संसार, प्रकृति का जो भी ह्रास हो वह इस परिणाम की कतई चिंता नहीं करता। साथ ही लोगों को रात–दिन एक नई दुनिया में होने, जन्नत में होने के सपने दिखाता है। इस भ्रामक प्रचार से बहुसंख्य लोग उसी तरह से आकर्षित हो कर मिट रहे हैं जैसे पतंग रोशनी देखकर उसकी तरफ झपटता है और उसी में जल मरता है।

पुरानी व्यवस्था में भी एक आश लोगों में जगाई गयी थी। जिसका निष्कर्ष निकला कि, 'खुद मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता है'। स्वर्ग किसी को मिला कि नहीं, हमें नहीं मालूम क्योंकि अभी तक तो मरकर कोई लौटा नहीं; यह कहने कि ' मैं स्वर्ग की सैर करके आया हूं'। ऐसे ही एक 'स्वर्ग' की कल्पना नई मशीनी अर्थव्यवस्था हमारे मनों में जगा रही है कि तुम भी आओ, दौड़ो इस दौड़ में; जीते जी हम तुम्हें 'स्वर्ग' में पहुंचायेंगे। बस हम सब इस राजमार्ग की स्वर्गीय यात्रा में शामिल हैं। दुनिया के शीर्ष पर नया 'ब्राह्मणवाद' इस तंत्र को संचालित कर रहा है। इसका चमत्कार यह है कि पहले व्यवस्था के लोग सामने थे और अब यह तंत्र की आड़ में अदृश्य है। बस मान्यता बनाने का काम अपरोक्ष रूप से किया जा रहा है। प्राचीन जाति विभाजन व वर्तमान अर्थव्यवस्था के बीच फंसा 'गरीब' आदमी चातक पक्षी की तरह 'स्वाति बूंद' की आशा में इस जन्नत की तरफ खड़ा देखता है कि कभी तो इस व्यवस्था में समृद्धि की बारिश होगी व कोई बूंद उसके मुंह में भी पड़ेगी जिससे उसकी सदियों की प्यास बुझ सकेगी। यह इस व्यवस्था का दर्दनाक पहलू है। अब इन लोगों के लिए वर्तमान अर्थव्यवस्था के इस स्वर्ग में कौन सा कोना बचा हुआ है। यह कौन सी 'गरीबों की सरकार' हमें बतायेगी।

हिन्दुस्तानी समाज के इन अंधकार युगों की गर्त में देखने की कोशिश करें तो हमें कुछ चिराग झिलमिलाते दिखते हैं। समाज व्यवस्था में समानता के संघर्ष व देशी अर्थव्यवस्था को हम दो इतिहास मानवों में देख सकते हैं। कबीर व रैदास दो ऐसे ही प्रचलित नाम हैं। कबीर एक जुलाहा थे, कपड़ा बुनना उनका पेशा था। रैदास चर्मकार थे वो चमड़ा सीकर अपनी जीविका चलाते थे। कबीर व रैदास अपने इन परंपरागत धंधों को करते हुए अपने परिवार का भरण–पोषण करते थे। दोनों ने समाज में समता के लिए भी संघर्ष छेड़ा। उन्होंने जीवन व समाज की उस समय की अलोकतांत्रिक व्यवस्था पर प्रहार किया और समाज में समता की स्थापना के लिए, स्वराज के लिए आजीवन संघर्ष किया। यह अपनी अर्थनीत व जीवन चेतना का बेजोड़ उदाहरण है, ऐसा समाज कभी हिन्दुस्तान में रहा होगा इसकी गवाही देता है। छिटपुट तो आज भी मौजूद है। यहां यह गौरतलब है कि

व्यापक समाज भी उन्हीं की तरह अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हुए हमेशा संघर्षरत नहीं रह सकता। लेकिन इससे समाज में एक लोकतांत्रिक बहस के लिए जगह जरूर मिलती है। हम किसी भी मसीहा का इंतजार किये बिना इस बहस को समाज में चला सकते हैं। पर यह बहस सिर्फ कबीर व रैदास के मूल्यांकन, उक्तियों, उनके किस्से, कहानियों तक सीमित न रहकर समाज में, समाज के लोकतांत्रिक मूल्यों तक पहुंचनी चाहिए। अन्यथा उसका कुछ अर्थ नहीं रह जायेगा। आज के दिन हम देखें कि मशीनी व्यवस्था में मशीनी उत्पादन प्रणाली के तहत अपनी आजीविका को चलाने वाला व्यक्ति क्या उस मशीनीकरण की व्यवस्था के खिलाफ, जो उसका अमानवीय पहलू है; विद्रोह कर सकता है? अपनी जीविका की मजबूरियों के चलते इसकी संभावनायें कम हो जाती हैं। अतः हमको यहां समता के नये आधार खोजने होंगे। काम व दर्शन के बीच, श्रम को कमतर आंकने व जीवन के श्रमोत्तर प्रश्नों के बीच अन्तर देखने वाले लोगों के लिए, समाज में काम व दर्शन के ढांचे के बीच समन्वय के लिए भविष्य में यह तरीका कारगर साबित हो सकता है कि काम व दर्शन के बुनियादी सवाल को कबीर व रैदास की मदद से समझा जाए।

आज भी उत्पादन तथा अन्य धंधों में लगे लोगों को कुछ कमतर तथा किताबी व बौद्धिक कामों में लगे लोगों को ज्यादा श्रेष्ठ माना जाता है। वे आज की व्यवस्था में सामाजिक विषमता के प्रतीक हैं। इस प्रतीकात्मक व्यवस्था को एक लोकतांत्रिक समाज में तिलांजलि देनी होगी। जिसका रास्ता कर्म व दर्शन के समन्वय पर संवाद प्रक्रियाओं से होकर गुजरता है। क्या आज का सामाजिक रूप से जातिवाद व आर्थिक रूप से बाजारीकरण की हवा में सांस ले रहा समाज इस तरह की समतावादी व्यवस्था की तरफ गति करेगा। वर्तमान अर्थव्यवस्था के चलते गरीब दोहरी मार झेल रहा है। अत्यधिक यांत्रिकता पर निर्भर वर्तमान अर्थव्यवस्था गरीब विरोधी है इसलिए यह लोकतंत्र विरोधी है ठीक वैसे ही जैसे जाति व्यवस्था समता विरोधी है इसलिए लोकतंत्र विरोधी भी। इस अर्थव्यवस्था के संचालक तथाकथित विकसित देशों की यह रणनीति है कि वे दुनिया के सभी देशों में उपलब्ध संसाधनों–चीजों को सस्ते दाम पर व्यापारीकरण के माध्यम से अपने देश में लायेंगे व लोगों को मुहैय्या कराएंगे। अपने देश के प्राकृतिक संसाधनों, जंगलों, खनिजों को बचाये रखेंगे। सबके खत्म होने पर भी उन्हें इस्तेमाल करेंगे। इसलिए आज अपनी राष्ट्रीय संप्रभुता, गरीबी व अमीरी की परिभाषा, कसौटियां व मापदण्ड हमको अपने समाज की स्थितियों व अनुभवों के आधार पर तय करने होंगे। इसका मतलब बाहरी चीजों की तरफ नकारात्मक रूख रखना नहीं है। बल्कि इसकी सजगता रखनी है कि बाहरी तौर–तरीके हमारे लिए घर आये मेहमान की तरह हैं। उनके साथ वही सम्मानजनक व्यवहार हो लेकिन वही मेहमान हमको अपने घर के तौर–तरीकों से जुदा करना चाहे, हमारा रिश्ता बदलने की कोशिश करे तो उससे प्रभावित हुए बिना उसे घर से बाहर का रास्ता दिखाना होगा। यह तभी संभव हो पायेगा जब हमारे अपने घर की व्यवस्था मजबूत होगी। तब गरीबी के सवाल पर, पूंजी के सवाल पर, अर्थव्यवस्था, अधिकार, समता, मैत्री जैसे सवालों पर जो प्रचलित मान्यतायें, अवधारणायें हैं चाहे क्रान्ति के नाम पर ही क्यों न हों। हमको अंतिम अवधारणा ये नहीं दिखेगी। ऐसा नहीं लगेगा कि इन सवालों पर

अब नये ढंग से सोचा ही नहीं जा सकता। इससे दुनिया में जो समाज की समता का सपना, लोकतंत्र का सपना पहले देखा जा चुका है उससे आगे के सपने का विस्तार होने की संभावनायें बनेंगी। एक लोकतांत्रिक समाज में यह तय करना होगा कि आज आर्थिक समानता व स्वतंत्र अर्थव्यवस्था या खुली अर्थव्यवस्था के मायने क्या होंगे? उसके प्रतीक क्या होंगे?

आज बाजारीकरण की अर्थव्यवस्था में गांव का स्वत्व, उसकी स्वतंत्रता, बुद्धि व समृद्धि का तेजी से ह्रास हो रहा है। क्या एक लोकतांत्रिक समाज में समतावादी व्यवस्था में गांव का कोई स्थान नहीं होगा? होगा तो किस तरह का? या आज गांव की परिभाषा क्या होगी? किसे कहेंगे गांव? आज ऐसी बहुत कम गुंजाइश रह गयी है कि अपने उपयोग की चीजें सामान्य बुद्धि से गांव के परिवेश में गांववालों द्वारा निर्मित की जा सकें। स्वावलंबन के साथ ही एक प्रश्न और उठता है कि क्या मानव समाज केवल जीविका के साधनों को खोजने व उनका उपभोग करने के लिए ही इस धरती पर है? क्या मानव समाज केवल आर्थिक इकाई भर है? क्या मानव समाज का उद्देश्य धरती पर है? क्या मानव समाज का उद्देश्य खाने–कमाने के साधनों के लिए अपनी जीवन यात्राओं को समर्पित कर देना है? यदि हां तो फिर बाकी प्रश्न बेमानी हो जाते हैं। यदि इसका जवाब नकारात्मक है तो यह दिशा बनती है कि मानव समाज अपनी सारी शक्ति, सारी ऊर्जा, प्रत्येक अणु को अपनी असलियत को पहचानने में, इस समस्त संसार में अपने होने के अर्थ, महत्व को जानने में लगाये, ताकि इस धरा पर मानव समाज के होने का, मानव ही क्यों समस्त रचनाओं के होने का जो भी उद्देश्य है वह समझने की तरफ गति बढ़े। क्या हमारी तमाम व्यवस्थायें हमको उस तरफ गति करने में मदद कर रही हैं? कौन सा कानून, कौन सी परंपरा, धार्मिक–सांस्कृतिक व्यवस्था, विज्ञान का चमत्कार उस दुनिया के साझा उद्देश्य को समझाने में मदद कर रहा है?

क्या वर्तमान प्रकृति के दोहन पर आधारित अर्थव्यवस्था के चलते मानव की गरिमा, समाज की अस्मिता, परस्पर मैत्री–सहयोग की भावना विकसित हो सकती है? जहां से मानव समाज अपने पवित्र लक्ष्य की ओर गति कर सके। यहां उत्तर नकारात्मक है तो फिर से ग्रामीण परिवेश, प्राकृतिक परिवेश आधारित अर्थव्यवस्था पर अपना चिंतन मुखर करना होगा पर एक सावधानी के साथ। आज के बाजारी युग में जब समाज का एक तबका तथाकथित आधुनिक व्यवस्थाओं से त्रस्त होता है तो उसे परंपरा की हर चीज अच्छी लगने लगती है। वह वर्णव्यवस्था महिलाओं के प्रति दोयम दर्जे की मानसिकता का भी हिमायती होने लगता है। वह प्राचीन काल को 'स्वर्ण युग' कहकर संबोधित करने लगता है। मशीनें तो पहले भी रही हैं। न्यूनतम मशीन व शरीर श्रम पर आधारित ग्रामीण प्राकृतिक वस्तुओं पर सहयोगपूर्ण रवैये पर आधारित इस अर्थव्यवस्था में पारंपरिक उद्योग–धन्धों व खेती की समृद्धि बनी। पर जब इस पर ऊंच–नीच की सोच हावी होने लगी तो इसका स्वरूप बदलने लगा। यह मानसिकता में इसलिए भी पक्का हो गया क्योंकि ऐसी सामाजिक विषमता को धार्मिक संरक्षण प्राप्त हो गया। साथ ही धार्मिक कर्मकाण्डों से जुड़े समाज

को जो कतई भी उत्पादक व शरीर श्रम पर आधारित नहीं था उनको धार्मिक संरक्षण प्राप्त इस व्यवस्था में ऊंचा माना गया। सामाजिक उपेक्षा के साथ पारंपरिक धन्धों में लगा समाज लंबे समय से छटपटा रहा था जो इन धंधों के पतन का कारण बना। साथ ही नई अर्थव्यवस्था ने रही–सही कसर पूरी कर दी। अब जब एक लोकतांत्रिक समतावादी समाज का सपना आज का जागरूक नागरिक देखेगा तो उसे बाजारी अर्थव्यवस्था के नुकसानदेह परिणामों को पहचानने के साथ–साथ नई अर्थव्यवस्था की संभावना पर भी दृष्टि रखनी होगी। इस क्रम में उस समाज के प्रति कृतज्ञता जाहिर करनी होगी जिस मेहनतकश व दूरदर्शी समाज ने वर्षों के अपने अनुभवों–मेहनत से इस समाज के लोगों के साथ ही पूरी दुनिया को समृद्धि की एक स्थायी अर्थव्यवस्था भेंट की। अर्थशास्त्र के तमाम जटिलतम सिद्धान्तों को रटे–बनाये बगैर। आज हम दिन–रात नये–नये सिद्धान्त गढ़ते रहते हैं। फिर भी समाज में गरीबी का आलम बढ़ता जाता है। सामाजिक क्रूर प्रतिस्पर्धा के चलते सामाजिक विघटन बढ़ता जाता है। आज अमीर व गरीब की खाई और गहरी हुई है। इस वक्त हमें फिर से हिन्दुस्तानी मेहनतकश जमात के द्वारा गढ़ी गई स्थायी अर्थव्यवस्था के ढांचे को वर्तमान सन्दर्भों में देखने की आवश्यकता है। आज नहीं तो कल हमको यह जरूर महसूस होगा कि प्रतिस्पर्धा व नकल से आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इसलिए जड़ों की तरफ देखना अनिवार्यता होगी। यहां हम पीछे लौटने की बात नहीं कर रहे हैं बल्कि स्थिति–परिस्थितियों को देखने–समझने की बात है कि किस व्यवस्था के क्या परिणाम हो रहे हैं।

एक समता के समाज के लिए, मानव समाज को वर्तमान दैत्याकार अर्थव्यवस्था के ढांचे से बचाने व नये समाज की स्थापना के लिए देशी–अर्थव्यवस्था की तरफ देखना हमारी अनिवार्यता, जरूरत व बाध्यता तीनों है। लेकिन इसके सम्पूर्ण आयामों को देखते हुए क्योंकि प्राचीन काल में इस अर्थव्यवस्था ने यह संकेत दिये हैं कि आप प्राकृतिक परिवेश में हैं, ग्रामीण परिवेश में हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि आप एक सामाजिक समतावादी समाज भी हैं। जातीय व्यवस्था एक पूर्ण प्राकृतिक परिवेश में ही पनपी है। इसलिए प्रकृति पर आधारित समाज, लोकतान्त्रिक समाज भी होंगे, ये आवश्यक नहीं है। क्योंकि जिन शिल्पियों ने, अर्थ के रचनाकारों ने जिस अर्थव्यवस्था को अपनी चरम स्थिति तक पहुंचाया, व दुनिया में हिन्दुस्तान 'सोने की चिड़िया' कहा गया, वही लोग समाज की एक अन्य व्यवस्था के तहत नीच समझे जाने लगे व उनके धन्धे निकृष्ट। इसलिए जब भी स्थायी अर्थव्यवस्था की बहस होगी तो उसके मूल में समता का प्रश्न होगा। इस पर व्यापक बहस चलानी होगी कि कौन से धन्धे श्रेष्ठ हैं? कौन से धन्धे निकृष्ठ। किसी धन्धे को करने वाला व्यक्ति कैसे श्रेष्ठ व निकृष्ट हो जाता है? इसका आधार क्या है? कसौटी क्या है? यहां समाज व मनुष्य की गरिमा, महत्व का प्रश्न मुखर करना होगा। परंपरा में जो उत्पादक धन्धे हैं, जिनकी वजह से उत्पादक धन्धों, श्रम आधारित व्यवस्था को हीन कोटि का समझा जाता है, उसका कारण क्या है? एक लोकतांत्रिक अर्थव्यवस्था में इस तरह के धन्धों का क्या स्थान होना चाहिए? जिन धन्धों का समाज से केवल कर्मकाण्डीय संबंध है जो बौद्धिक माने जाते हैं। उनका स्थान इस समाज में क्या होगा? हजारों साल पहले इस समाज ने प्रकृति के

प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए प्राकृतिक व्यवस्था को समझकर एक अर्थव्यवस्था विकसित की थी जो पूरी तरह से समतावादी व सामाजिक न्याय, पारिवारिक परंपरा के शिक्षण पर आधारित थी, पर जातीय विषमता की विभाजन रेखा ने उसे ग्रास लिया।

आज सामाजिक दृष्टि से इस समाज को 'गुरू' बनाना होगा। सीखने के लिए अगुवा की भूमिका देनी होगी। सर्वप्रथम यह समझ में आना होगा कि किसी भी तरह की गैरबराबरी–विषमता का कारण जन्मजात व व्यवस्था का अनिवार्य लक्षण नहीं है। शास्त्रों में लिखा है या ऐसा किसी ने कहा है जैसी उक्तियों से शायद अब काम न चले। समाज के गरीब तबकों के प्रति असम्मानसूचक उक्तियां जो यत्र–तत्र बिखरी पड़ी हैं उसके प्रति व्यापक स्तर पर समाज में शर्मिन्दगी का अहसास होना चाहिए कि एक समतावादी समाज की तरफ बढ़ रहे लोकतंत्र में अलग–अलग तबकों के लोगों के प्रति जनव्यवहार व भाषा का स्तर क्या होगा? एक लोकतांत्रिक समाज में किसान, शिल्पी श्रम मूल्य व गैर उत्पादित श्रम का मूल्य किस आधार पर तय होगा? साथ ही सामाजिक–सांस्कृतिक स्तर पर मनुष्य की पहचान के क्या आधार होंगे? क्या एक ऐसी समतावादी अर्थतंत्र की व्यवस्था संभव है जिसमें किसान व शिल्पी किसी सामाजिक विषमता आधारित व्यवस्था के हिस्से नहीं होंगे बल्कि ये समाज की सकल समृद्धि के अलग हिस्से भर होंगे और सकल समाज की रचना के आधार पर स्तम्भ होने के साथ–साथ उसकी पूर्णता के भी आवश्यकक अंग होंगे। एक का भी न होना अपूर्णता का लक्षण होगा ताकि किसी को निठल्लेपन की आदत न लग जाये। ऐसे लोग किसी समाज की आर्थिकी पर कोई बोझ नहीं होंगे और सबको अपनी भागीदारी व श्रम आधारित व्यवस्था में योगदान का सहज अवसर उपलब्ध होगा। व एक नई संस्कृति की शुरूआत यहां से होगी। समाज व संस्कृति के प्रस्थान बिन्दु एक लोकतांत्रिक व्यवस्था हेतु इस व्यवस्था से निकलेंगे। किसी भी श्रम का मूल्य इस आधार पर तय किया जा सकता है कि उपर्युक्त श्रम का समाज व संस्कृति निर्माण में, आर्थिकी व पारिस्थितिकीय संतुलन में क्या भागीदारी है। समता आधारित इस अर्थव्यवस्था के लिए अर्थतंत्र के समानान्तर समाज के सामाजिक तानों–बानों व संबंधों पर भी व्यापक बहस चलानी होगी और ऐसी व्यवस्थाओं को लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं द्वारा समाप्त करना होगा जो समता की राह में रोड़ा हैं।

लोक व्यवस्था देशी अर्थव्यवस्था व सामाजिक समता की राह में हिन्दुस्तानी समाज की जाति संबंधी अवधारणायें–व्यवस्थाएं रूकावट हैं। यहां परिवारों का अपना रिश्ता जाति, कुल, गोत्र इत्यादि से तय होता है। नई अर्थव्यवस्था के रात–दिन के आर्थिक संघर्ष ने इस व्यवस्था को और मजबूत किया है। वर्तमान अर्थव्यवस्था में व्यापक समाज की कम सहभागिता व धार्मिक संकीर्णताओं के चलते सामाजिक गैरबराबरी बढ़ी ही है। वर्तमान अर्थव्यवस्था में भी समाज में एक खास वर्ग खड़ा हुआ है जो बाहरी निर्यात, विदेशी पूंजी व कम्प्यूटरीकृत–इंटरनेटकृत दुनिया से चमत्कृत है और इस दुनिया को श्रेष्ठ मानता है। यह वर्ग एक खास 'श्रेष्ठतावाद' का प्रतीक है। इस व्यवस्था के तहत व्यापक समाज का, संसाधनों का बेतरतीव दोहन–शोषण हो रहा है। व्यापक समाज विकास की बलि चढ़ाने

के लिए है। उसकी यही नियति है। संपूर्ण समाज के उत्थान के लिए समता के लिए ब्राह्मणवादी व्यवस्था में भी कोई व्यवस्था न थी। आज भी मशीनीकृत अर्थव्यवस्था में भी सबकी समृद्धि का कोई मापदण्ड नहीं है। आज सवा सौ अरब लोगों के लिए, उनके उत्थान के लिए एक समतावादी अर्थव्यवस्था व मैत्री वाली सहयोगी व्यवस्था कैसे निर्मित होगी ये लोकतंत्र के लिए चुनौती है। प्राचीन अर्थव्यवस्था अपनी संचालित पद्धति में लोकतांत्रिक थी पर सामाजिक समता का पुट न हो पाने के कारण यह गैर लोकतांत्रिक हो गई। अतः समाज की अस्मिता के लिहाज से अप्रासंगिक हो गयी। वर्तमान व्यवस्था में जाति आधारित कामों को करने का बंधन नहीं रहा। अब कोई भी जाति समूह अपनी योग्यता बढ़ाकर किसी भी नये धन्धे को अपना सकता है, कर सकता है। जाति आधारित धन्धों की बाध्यता अब समाप्त हो गयी पर कुछ नये तरह के वर्ग समाज में खड़े हुए हैं साथ ही सामाजिक स्तर पर जातीय पहचानें ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। ये 'माडर्न काल' का विरोधाभास है। वर्तमान अर्थव्यवस्था जनित विकास की दौड़ में समाज का बहुसंख्य हिस्सा नदारद है। जैसे जाति व्यवस्था में वह मानव होने के अधिकार, स्वर्ग व अध्ययन के अधिकार से वंचित था। इस विषमतापूर्ण समाज में एक खास वर्ग बह्मविद्या व स्वर्ग का अधिकारी था। ईश्वर का प्रतिनिधि व सभ्यता तथा महानता का प्रतीक था। आज भी एक खास वर्ग सभ्यता का, सफलता का, समृद्धि का प्रतीक है। दुनिया के कुछ अरबपति भारत में भी हैं ऐसी सूचनाएं पश्चिमी देशों के मीडिया से मिलती हैं क्योंकि यह उनकी ही व्यवस्था है। उनके मापदण्ड में अरबपति होना एक उपलब्धि है। हमारा कोई वैकल्पिक सूचना का, मीडिया का समाजोन्मुखी लोकतांत्रिक तंत्र नहीं है जो अपने मापदण्डों पर 'अरबपति' की व्यवस्था का आंकलन कर सके। हम इसके लिए भी विदेशी मीडिया पर निर्भर हैं, उसके प्रचार तंत्र वे ही हमें बतायेंगे कि हम अब अरबपति हो गये हैं, अब बहुत गरीब हो गये हैं इत्यादि, इत्यादि।

बहरहाल अरबपतियों के इसी देश में करोड़ों लोग नारकीय जीवन बिताने के लिए बाध्य हैं। कुछ लोगों का स्वर्ग पहले भी था, कुछ लोगों का स्वर्ग अब भी है। करोड़ों लोगों के सामाजिक समता से वंचित होने पर खुद को महान घोषित करने उच्च कुल का घोषित करने में न पहले के खास वर्ग को शर्मिन्दगी थी न ही आज वर्तमान अर्थव्यवस्था के पायदान पर भूख व असुरक्षा, असम्मान से तड़पते लोगों का दुख, खुद को अरबपति कहलवाने में एक खास वर्ग को शर्मिन्दगी महसूस होती है। यह हमारी, समाज व लोगों के प्रति संवदेनशीलता का स्तर है। ऐसे में समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों पर विश्वास करके घनघोर अंधेरे में चिराग लेकर उजाले की राह को खोजना है। यह तभी होगा जब ब्रह्मविद्या के महान उपासकों को अपने ही समाज में किसी गरीब, अछूत माने जाने वाले लोगों में भी 'ब्रह्म दर्शन' होंगे और किसी अरबपति को उसकी अपनी ही समकालीन अर्थव्यवस्था में भूखे मरते लोगों का भी दंश सतायेगा व अपनी 'ब्रह्मविद्या' व अमीरीपन दोनों पर शर्मिन्दगी महसूस होगी। साथ ही समाज के उन लोगों के प्रति भी सम्मान का भाव जगेगा, जिनकी बदौलत कभी इस देश की समृद्धि चरम पर थी और उत्पादन श्रम से न जुड़े लोग इस समृद्धि का आनन्द लूट रहे थे। इसी परंपरा की साहित्यिक दार्शनिक—लौकिक अभिव्यक्ति

कबीर–रैदास में हमको झलक के तौर पर दिखती है। उसकी अभिव्यक्ति इस देश के गांवों में मृत प्राय अब भी बिखरी पड़ी है।

परंपरागत प्रकृति के साथ तालमेल पूर्वक चलने वाली अर्थव्यवस्था का नवीनीकरण चेतना के स्तर पर आधुनिकता (आज की आधुनिकता नहीं बल्कि सामाजिक जीवन के तमाम संबंधों के बारे में नई अवधारणा जो लोकतंत्र के आनुसांगिक हो) हिन्दुस्तान व साथ में दुनिया का भविष्य है। पारंपरिक अर्थव्यवस्था व आधुनिक चेतना दोनों का लोकतांत्रिक तरीके से नवीनीकरण हमारे भविष्य का समाज है। ताकि समाज की मान्यता व अर्थतंत्र के बीच, दर्शन व कर्म के बीच तालमेल बैठ सके और मनुष्य समाज अपने वांछित लक्ष्य तक पहुंच सके। 'स्वराज' आ सके। उसके लिए न जाने कितनी तरह की प्रक्रियाओं, बहसों, संवादों, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक गतिविधियों से होकर गुजरना पड़ेगा ताकि लोकतांत्रिक मूल्यों को समाज में साकार किया जा सके। नई संस्कृति का उदय इन्हीं प्रक्रियाओं से होगा पहले संस्कृति एक खास समूह अभिव्यक्ति को माना गया। आज 'संस्कृति' का मतलब 'उपभोक्तावाद' है जो तमाम लोकतांत्रिक पद्धतियों–मूल्यों को छिन्न–भिन्न कर रहा है।

समाज के लोकतांत्रिक लक्ष्य साझा हैं तो प्रक्रियायें भी साझा होंगी। विचार भी साझा होगा यही लोकतांत्रिक व्यवस्था का वैभव है। अब एक के विचार करने से नहीं चलेगा। यह साझा विचारों की क्रान्ति का दौर है। अपने विचारों–मान्यताओं व निष्कर्षों को परस्पर साझा करके कार्यक्रम निकालना; यह लोकतांत्रिक प्रक्रिया कही जायेगी। आज लोकतंत्र में सबकी भागीदारी हेतु चुनाव की एक पद्धति ईजाद की गयी है। भविष्य में हो सकता है इसमें भी बदलाव करने की आवश्यकता पड़े, चुनाव व भागीदारी की अन्य या बेहतर, ज्यादा लोकतांत्रिक विधियों पर संवाद का रास्ता हमेशा खुला रहेगा। पुलिस, अदालतों के न्याय करने का तरीका भी इसका हिस्सा होगा कि कैसे इन व्यवस्थाओं को भी ज्यादा लोकतांत्रिक, ज्यादा कल्याणकारी बनाया जाय। यहां यह भी सुनिश्चित करना होगा कि प्रशासन का तंत्र 'निर्णयकारी शासन पर हावी न हो और मीडिया जो जन भावनाओं के निर्माण में महत्वपूर्ण भागीदारी निभाता है वह शासन, प्रशासन व बाजार के प्रभाव–दबाव से बाहर हो। आज गरीब सरकारी मशीनरी से त्रस्त है; शासन के तंत्र के कोरे आश्वासनों, और वादाखिलाफी के चलते लोगों का सरकार से मोह भंग हो रहा है। इसलिए चुनाव नजदीक आने पर ज्यादा शोर–शराबा करना पड़ता है। तमाम समाज के तोड़क घटकों के आधार पर जाति, वर्ग, धर्म के लोगों की लामबंदी शुरू हो जाती है। सामान्य नागरिक इस भयंकरतम प्रचार में ये देखने को बाध्य हो जाता है कि कौन सा उम्मीदवार उसकी जाति, वर्ग, धर्म का है? कौन उसके सबसे ज्यादा नजदीक बैठेगा। ऐसी परिस्थितियों में राजशाही, तानाशाही, कबीलावाद से लोकतंत्र को बाहर निकालना है। इसमें कुछ सतर्कताओं की आवश्यकता होगी। ऐसा न हो कि शासन तंत्र पर आर्थिक व सैन्य ताकतों का नियंत्रण हो जाय जैसा कि तीसरी दुनिया के देशों में अक्सर घटित होता रहता है। यदि ऐसा हो गया तो गरीबों की आखिरी आशा, एक लोकतांत्रिक व्यवस्था की संभावनायें क्षीण हो जायेंगी।

वर्तमान स्थितियों में कभी–कभी यह चिन्ता होती है कि जिस तरह से सरकारें निजीकरण व तथाकथित उदारीकरण की गिरफ्त में फंसती जा रही हैं और आर्थिक–सामाजिक–सांस्कृतिक सत्ताएं, प्रतिष्ठान – संस्थायें बाजार की ताकतों के हाथ में जा रही हैं व लगातार सार्वजनिक उपक्रमों : सड़क, बिजली, पानी, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि पर बाजारी शक्तियों का दखल –कब्जा बढ़ रहा है; इसके चलते ऐसी स्थिति न आये कि सरकारी महकमे मुगल काल के आखिरी बादशाह बहादुर शाह जफर की तरह इन शक्तियों के हाथों की कठपुतलियां बन जायें। जहां तमाम मंत्रियों, सांसद, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री इत्यादि चुने हुए प्रतिनिधियों को खाने–पीने, मौज–मजा करने, विदेश घूमने इत्यादि की सुविधायें तो होंगी पर निर्णय की शक्ति, व्यवस्था निवर्हन की सत्ता इनके हाथ में न होगी। जिसके लिए वे इस तंत्र के शीर्ष पर एक लोकतांत्रिक व्यवस्था के तहत विराजमान हैं। वर्तमान दुनिया के नये मालिकों; अमेरिका सहित विश्व व्यापार संगठन, विश्व आर्थिक मंच, विश्व बैंक व बहुराष्ट्रीय निगमों के साझा अभियानों, जिसके तले न जाने दुनिया की, समस्त प्रकृति, मानव समाज की क्या–क्या चीजें मिट चुकी हैं। खत्म हो चुकी हैं और आगे खत्म होती जायेंगी। इनसे जनभागीदारी वाले लोकतंत्र को तो खतरा है ही साथ ही इस धरती पर मानव सहित समस्त प्राणिमात्र–जीवधारियों के अस्तित्व को भी खतरा है। ये सारे संगठन किसी व्यापक जनभागीदारी–सहमति, लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रियाओं, संसदीय बहसों, वोटिंग प्रणाली के जरिये नहीं बने हैं इसलिए इनकी विश्वसनीयता लोकतांत्रिक मूल्यों के विपरीत बैठेगी। मीडिया व तमाम प्रचार तंत्र, प्रचार माध्यमों के द्वारा वर्तमान में सूचना क्रान्ति इत्यादि न जाने कितने नामों पर, जिस तरह से समाज में एक विचार शून्यता को पैदा करने के वाहक बन रहे हैं। वह निश्चित ही लोकतांत्रिक समाज के भविष्य के लिए अच्छा नहीं है।

इस विचारशून्यता व जड़ता को तोड़ने के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्था के समस्त आयामों पर बहस आवश्यक है। आज भाषा पर समाज की राय बनाने वाले अगुवा लोग, धर्म के अगुवा लोग, संस्कृति, आधुनिक विज्ञान–तकनीकी व विकास की मान्यता बनाने के अगुवा लोग, तमाम प्रचार तंत्र के माध्यम से समाज में जिस तरह की खास दिशा में काम कर रहे हैं वह निश्चित ही लोकतांत्रिक समाज की तरफ जाने वाली दिशा नहीं है। हमारे धर्म का स्वरूप व सांस्कृतिक ताना–बाना ऐसा हो जिसमें व्यक्ति एक–दूसरे को 'मित्र' रूप में स्वीकार कर सकें। प्रकृति के तमाम आयामों के साथ सहकार करके जीवन पद्धतियों को विकसित कर इसकी संभावनायें खोजनी होंगी। यहां यह सवाल उठेगा कि यह वांछित व्यवस्था कितनी दौलत होने पर, प्रकृति का कितना दोहन होने पर, कितना विकास होने पर मंदिर–मस्जिद–चर्च बनाने पर हो पायेगी? ये अगुवा लोग बतायें? जिन नीतियों को बना रहे हैं उनकी कसौटियां क्या हैं? कौन से धर्म, धर्मग्रन्थ, शास्त्र या तकनीकी, मशीनों के सहारे 'गरीबी' दूर हो सकती है? तमाम गरीबियां दूर करने का व्यावहारिक उपाय क्या हैं? क्या हिन्दुस्तानी नागरिक, गरीब कुछ इने गिने लोगों; राम रहीम, कृष्ण–करीम, मोहम्मद, बुद्ध, ईसा के इर्द–गिर्द घूमता रहेगा या कहें कि नये जमाने के विकसित कहलाने वाले मुल्कों, अरबपतियों–खरबपतियों की दुनिया को सलाम करता रहेगा; इस आशा में कि कभी

वह भी ऐसा हो पायेगा। या इन तमाम धाराओं पर एक स्वस्थ संवाद प्रक्रिया के मूल्यांकन के बाद लोकतांत्रिक समाज में अपना भविष्य तय करेगा। इन सबका सर्वजनहित वाली स्वराज व्यवस्था में क्या स्थान होगा? एक लोकतांत्रिक समाज में 'भगवान' व 'मशीन' का क्या स्थान होगा? ऐसे समाज में उसकी अवधारणा क्या होगी?

निजी स्तर पर जीवन की ऊंचाइयां हासिल करना परंपरा में मनुष्य का लक्ष्य था ताकि समस्त अभावों से परे अपने मूल भाव में स्थित हो जाएं। आज निजी स्तर पर बेहिसाब संपत्ति का मालिक होना लक्ष्य है। दोनों में व्यक्तिगत स्वार्थता का, निजी स्वार्थ का एक पुट समाहित है। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए काम करना आसान है। दोनों परंपराओं में सामूहिक सपना नहीं दीखता। गांधी इस मसले में पहले क्रान्तिकारी थे, जिन्होंने सामूहिक स्वार्थ के लिए, सामाजिक लक्ष्य के लिए समूह के साझे सपने को साकार करने का लक्ष्य रखा। उन्होंने निजी जीवन को सर्वजन हिताय समर्पित किया क्योंकि साझा मुक्ति में ही मेरी मुक्ति है ऐसा उनका विश्वास रहा। व्यापक समाज अमानवीय बना रहे व कुछ लोग शीर्ष पर तटस्थता से तमाशा देखते हों, यह निजी स्वार्थ की दर्दनाक परिणति है। इस देश में एक 'नई संस्कृति' की शुरूवात गांधी ने की, सामाजिक कर्म को स्वयं ही नहीं, बल्कि समाज की मुक्ति का साधन बनाने की। जिसमें संभावनाओं का व्यापक संसार आगे खुला है। इसी कारण वे गरीब से गरीब व्यक्ति में भी बड़ी संभावना देख पाये। आज इस प्रेरणा से सामूहिक सुख, साझा समता के सपने की नई अवधारणा लानी होगी। इस युग में अमीर–गरीब, धर्म–अधर्म को मापने की कसौटियां तय करनी होंगी। कई स्तरों पर ये प्रक्रियायें चलानी होंगी। तब समझ में आयेगा कि लोकतंत्र का मतलब चुनाव जीतना व सत्ता प्राप्त करना भर नहीं बल्कि जनभागीदारी से समग्र समाज के समग्र घटकों को समाज निर्माण के लिए जोड़कर सामूहिक सुख और समता के लक्ष्य की तरफ बढ़ना है। ये प्रक्रियायें लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए सहयोगी होंगी।

आज हम ये आशा करेंगे कि लोकतंत्र के इस खूबसूरत सपने को साकार करने के लिए समाज का हर समूह तबका आगे आये। धर्म के अगुवा लोग साथ तो आयें। हम देखना चाहते हैं कि पंडित व मौलवी साथ मिलकर धर्म की अवधारणा, ईश्वर अल्लाह की मान्यता पर संवाद करें और अपने निष्कर्षों–विरोधाभासों को सार्वजनिक करें। पंडित–पादरी आयें आखिरकार सामान्यजन ये देखना चाहेगा कि अगुवा लोगों का परस्पर क्या निष्कर्ष निकलता है साथ ही इससे समाज में बहस के कुछ नये आयाम खुलेंगे। जो समता के समाज के लिए मददगार होंगे। इसी तरह ब्राह्मण–शूद्र संवाद हों, ब्राह्मण–स्त्री संवाद हों; मौलवी–स्त्री संवाद हों ताकि ये बातें सामने आयें कि दोनों में ऐसा क्या फर्क है कि एक जन्मजात महान पैदा होता है और एक हीन। मजदूर–पूंजीपति, विज्ञान–तकनीकी से जुड़े लोग धार्मिक समाज के अगुवा लोगों में बातचीत हो। इन तमाम सवालों पर कि तमाम ज्ञान–विज्ञान, साधनाओं का सामूहिक साझा समाज के सपने के लिए ; इस धरती पर प्राणिमात्र का अस्तित्व, उसके वैभव के साथ बना रहे ; इसके लिए क्या महत्व है? जो अपने को सामाजिक–सांस्कृतिक संगठन मानते हैं उनका भी यह दायित्व है। अर्थव्यवस्था

के अगुवा लोग सामान्य नागरिक को ये बतायें कि कितने संसाधनों पर कितने तरह के धन्धों पर देश के कितने लोग निर्भर हैं? इन संसाधनों व निर्भर लोगों का भविष्य क्या है? कैसी अर्थव्यवस्था की आवश्यकता आगे पड़ेगी? यही संवाद समाज के तमाम तबकों के बीच चले।

हर 10–15 गांवों के बीच में एक 'समाजशाला' की स्थापना हो, जहां नागरिक समाज इन तमाम निष्कर्षों व क्षेत्र के जटिल सवालों पर खुलकर बातचीत करके अपना साझा भविष्य तय कर सके। तमाम अगुवा लोगों से सवाल करने का मंच भी यह बने। उक्त वांछित 'स्वराज' के लिए 'स्वराज अभियान' चलाये जायें, जिनमें संवाद का लक्ष्य, आर्थिक–सामाजिक समता व राजैनतिक जागृति हेतु लोगों को नये समाज की रचना के लिये तैयार करना हो। ये प्रक्रियायें व्यापक स्तर पर चलेंगी तो साझा रूप से सामूहिक सुख की अवधारणा तय कर उसके अनुरूप व्यवस्था की तरफ कदम बढ़ेंगे। हो सकता है वह रास्ता देशी अर्थव्यवस्था व मैत्रीपूर्ण समाज रचना की तरफ गति बढ़ाने में सहायक हो। पुराने धन्धे क्या किसी भी धन्धे के प्रति हिकारत का भाव मन से जायेगा तो ऐसी अर्थव्यवस्था को खड़ा करने वाले लोग जिनको हम 'गरीब' कहते हैं अपने आत्मसम्मान के साथ फिर उठ खड़े होंगे। ये लोग नई विश्वक्रान्ति के अगुवा होंगे। क्योंकि तमाम व्यवस्थाओं में हमेशा अपनी जगह तलाशकर चालाकी से फिट होने वाले लोग अपनी आत्मिक गिरावट के चलते शायद ऐसे विकल्प खड़ा करने का जोखिम न उठा पायें पर बहुसंख्य समाज की नैतिक ऊर्जा से उनको भी बल मिलेगा और 'गरीबी' की ईमानदार ताकत का अहसास होगा। गरीबों को केवल गरीब न मानकर क्रान्ति का अगुवा बनाये यह समता के समाज की तरफ पहला कदम होगा। जीवन के क्षेत्र में हजारों प्रयोग इस देश ने किये हैं इन गरीबों (आज के गरीबों) ने किये हैं। नया ज्ञान गढ़ा है। आज एक ओर प्रयोग की प्रतीक्षा इस धरती से सारी दुनिया को है। नया ज्ञान, नई संस्कृति, समाज गढ़ने की चुनौती। इसका परिणाम सालों बाद दिखेगा पर शुरुवात हमें ऊर्जावान व गौरवमय बनायेगी। साझा सपना, सामूहिक सुख व समूह साधना का रास्ता यहां से होकर गुजरता है। लोकतंत्र की भावना हमारे पास है इसको समृद्ध बनाना हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है फिर यह पूर्वी–पश्चिमी नहीं रह जायेगा बल्कि देशी हो जायेगा। क्या तमाम तरह के गरीबों की मुक्ति हेतु काम कर रहे संगठन, गरीबों की चिंता करती लोकतांत्रिक सरकारें इस प्रक्रिया को आगे बढ़ा पायेंगी? यदि हां, तो 'अच्छे दिन आ रहे हैं' जब लोकतंत्र एक खूबसूरत सपने से एक खूबसूरत व्यवस्था में तब्दील होगा।

# , d xjhc dh foue pqukSrh & pkj

मैं पिछले 15 वर्षों से सार्वजनिक जीवन में हूं। आज से 15 वर्ष पहले संयोगवश एक संस्थान में अध्ययन के लिए जाना हुआ। जाने का मकसद नहीं था पर यह स्पष्ट नहीं था कि वहां जाकर क्या करूंगा; बस इतना ही सूझा कि मुझे वहां जाना है बस। मन में हमेशा एक अजीब तरह की छटपटाहट रहती थी कि कुछ है, जो ठीक नहीं हो रहा है। लगता था कि हम ऐसे नहीं होते कुछ अन्य तरह के होते तो कैसे होते इत्यादि; पर रास्ता कुछ नहीं सूझता था। कई बार लगता कि यदि हम किसी उच्चजाति के परिवार में जन्मे होते तो हमें जो जन्मजात आर्थिक विषमता सहनी पड़ी, वह न सहन करनी पड़ती। फिर सोचने लगता कि यदि दुनिया में लोगों ने ऐसी व्यवस्था बनाई है तो किसी को तो इसकी विषमता झेलनी ही है। यदि मैं न होता तो कोई दूसरा हुआ होता; वो परिस्थितियां किसी न किसी के साथ घटित हो ही रही होतीं। इसी क्रम में धीरे–धीरे यह समझ में आने लगा कि यह व्यवस्था तो पूरे समाज के विकास में बाधक है। तब लगा कि आर्थिक–मानसिक आधारों पर समाज में विभाजन उत्पन्न करने वाली इस व्यवस्था में बदलाव की आवश्यकता है पर मेरे पास इसका कोई बना–बनाया समाधान नहीं था और मेरे सोचने भर से यह व्यवस्था बदलने वाली नहीं थी। लगता था काश अन्य परिवारों की तरह हमारे पास भी जमीन होती, हम भी एक–दूसरे के घरों में बेधड़क जा पाते; हमें किसी के आंगन भर में ही बैठकर ठिठकना न पड़ता। यदि ऐसा होता तो गांव का माहौल कितना बदला रहता, सबके मनों में कितनी ऊर्जा रहतीं लेकिन ये सब बस कल्पना का संसार बुनने जैसा ही था। इसके आगे कुछ भी नहीं। इसलिए एक स्तर पर न चाहते हुए भी स्वीकार कर चल रहा था कि यही हमारी नियति है। जब हर जगह पर अपनी सीमा का नजारा देखने को मिला तो ऐसी घटनाओं ने मन को अन्दर से खामोश कर दिया और बस तटस्थता से चीजों को देखने की आदत डाल ली।

जीवन के कुछ अस्त–व्यस्त अनुभवों के साथ इन परिस्थितियों से मुक्ति की तलाश में, स्वयं में कुछ सवाल लिए एक तरह से कहा जाए तो भागा था। ऐसा लगता था कि यदि इस परिवेश में रहूंगा तो जीते जी घुट कर मर जाऊंगा इसलिए अवसर मिलते ही मैं घर से चला गया। ये भी पता नहीं था कि कैसी जगह होगी, वहां क्या करना पड़ेगा; केवल यह धुन सवार थी कि बस जाना है। इतना ही पता था कि एक कोर्स है उसके बाद नौकरी मिलेगी तो बस, नौकरी की तलाश में चल पड़ा था। वहां गया तो पता चला कि यह एक शिक्षण संस्थान है; शिक्षण संस्थान ही नहीं बल्कि वैकल्पिक शिक्षण संस्थान है।

वैकल्पिक का मतलब तब मुझे समझ में नहीं आया था। इंटरव्यू के बाद पता चला कि वह युवाओं में समग्र समाज की समझ विकसित करने हेतु एक वर्ष का शिक्षण कार्यक्रम है; उस स्कूल शिक्षा से हटकर जिसमें अभी तक प्रशिक्षण लिया था। आमतौर पर स्कूल–कॉलेज के वातावरण में एक निश्चित पाठ्यक्रम–पाठ्यपुस्तक व उनमें से कुछ सवालों को परीक्षा में हल कर लेने को एक सफलता के रूप में देखा जाता है और मान लिया जाता है कि अध्ययन हो गया है; शिक्षा का काम पूरा हो गया है। हर पाठ्यक्रम में निश्चित चीजों पर निश्चित जानकारियां–सूचनाएं होती हैं फिर वो चाहे पिछली बीत चुकी घटनाओं पर हों या वर्तमान की घटनाओं पर; कई बार यथार्थ के आस–पास, कई बार भिन्न, कई बार बिल्कुल अवास्तविक। यह हर तरह की जानकारी–सूचना के साथ घटित होता रहता है। लोगों के अनुभवों की अभिव्यक्ति भी सुनने–पढ़ने वालों के लिए सूचना ही है, किसी घटना की सूचना भर कोई ऐसी चीज नहीं होती जिसका हर चीज से निरपेक्षता का संबंध हो जैसे दुनिया की स्थिति से उसका कोई संबंध ही न हो।

शिक्षा अंततः हमारी तमाम सामाजिक–आर्थिक–राजनैतिक–सांस्कृतिक व्यवस्थाओं की अभिव्यक्ति है, वो इस व्यवस्था में जीने हेतु तैयार करने की पद्धति है जैसे वर्तमान काल में ये कहा जा सकता है कि आज का अर्थतंत्र व्यापार व पैसा आधारित है और पैसा प्राप्त करने की एक विधि पढ़ाई–लिखाई (आजकल शिक्षा को पढ़ाई–लिखाई का पर्याय माना जाता है), नौकरी से होकर गुजरती है तो शिक्षा पद्धति लोगों को नौकरी के लिए ही तैयार करेगी और यही उसकी आवश्यककता है। इस काम को संपन्न करने के लिए जो भी आवश्यक अध्ययन होंगे वही पाठ्यक्रम कहलायेंगे। यहां विरोधाभास की बात ये है कि वर्तमान शिक्षा भी इस तंत्र को ठीक से चलाने के लिए लोगों को तैयार नहीं कर पा रही है; अन्य तरह की अपेक्षा इस शिक्षा से नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसका अन्य लक्ष्य नहीं है। जब मैं इस तरह की एक निश्चित पद्धति व ख्वाबों को दिखाने वाली शिक्षा से निकलकर एक नये तरह की शिक्षण प्रक्रिया में शामिल हुआ तो कुछ और चीजें भी नजर आने लगी। यहां शिक्षा का लक्ष्य नौकरी भर के लिए तैयार करना नहीं था इसलिए यहां की शिक्षण प्रक्रिया भी उससे भिन्न, जो आवश्यक आयाम हैं, उनकी तरफ ध्यान दिलाने वाली थी। जहां शिक्षा का लक्ष्य था स्वयं, समाज व समस्त संसार की एक व्यापक समझ बनाना। इस समझ के साथ इस संसार व समाज में अपने महत्व का ठीक से आकलन कर अपनी जिम्मेदारी व भागीदारी नियत कर निर्वहन करना था, जो वाकई एक वृहद लक्ष्य था; इसके साथ ही एक और महत्वपूर्ण बात थी जिसने मुझे एक और आयाम में सोचने का मौका दिया कि इस कार्यक्रम में युवाओं को किसी खास स्कूली सर्टिफिकेट योग्यता के आधार पर शामिल न करके उनकी इच्छाशक्ति व क्षमता का आंकलन करके किया गया; जो वर्तमान की लीकपरस्त्र पद्धति से हटकर तो था ही।

पूजा–पाठ की कर्मकाण्डीय पद्धति से मुझे पहले से अलगाव रहा। कभी किसी मंदिर या अन्य स्थल की तरफ हाथ जोड़ने का प्रयोजन मुझे समझ में नहीं आया लेकिन ऐसा करने वाले लोगों के प्रति मन में कटुता भी नहीं आयी; पर आश्चर्य तब हुआ जब एक

वैकल्पिक युवा कोर्स का प्रारंभ यज्ञ करके मंत्रोच्चारण के साथ शुरू किया। शिक्षा जैसे विषय में पारंपरिक कर्मकाण्ड पद्धति का आगमन अन्दर से स्वीकार नहीं हो पाया। मुझे एकबारगी लगा कि एक और ऐसी व्यवस्था में आकर फंस गया हूं जो मैं चाहता नहीं था; फिर हुई ध्यान–प्रार्थना इत्यादि से सारे कार्यक्रमों की शुरुवात। इसको मैं मन से स्वीकार नहीं कर पाया परन्तु ये एक शिक्षण व्यवस्था का हिस्सा था इसलिए उसमें भी सकारात्मकता ढूंढने का प्रयास करता रहा; हां, मन में सवाल बना रहा कि मूल बात ध्यान, प्रार्थना इत्यादि से शान्त होना ही है। लेकिन फिर मन में आया कि क्या इसके स्थान पर हम कुछ और गतिविधि नहीं कर सकते; अपने को देखने व मन को शान्त करने की और भी तो पद्ध तियां हो सकती हैं पर कल्पना भर से काम नहीं चलता। बड़ी व्यवस्था में तो विकल्प की बात करनी होती है यदि ये नहीं तो क्या करेंगे इस समय, इसका जवाब मेरे पास न था। बस, ये सवाल मन में बना रहा और आज भी बना हुआ है। इसी कारण मैं कभी किसी नाम विशेष का नाम लेकर प्रार्थना नहीं कर पाया; लगा जीवन की किन्हीं वास्तविकताओं के आधार पर भी तो हम जिन्दगी व प्रकृति के प्रति आभार–कृतज्ञता प्रकट कर सकते हैं।

हम अपने होने व जीने में सबके सहयोग के प्रति आभार प्रकट कर सकते हैं, तब किन्हीं कल्पनाओं के आधार पर ऐसा करने की क्या आवश्यकता है। बस यह सोचा कि मानव मन की विशालता के आभास के लिए नई कृतज्ञताओं से भावपूर्ण रचनायें रची जा सकती हैं, गायी जा सकती हैं; जिसमें किसी अन्य को गुनगुनाने में परेशानी न हो। कुछ लोग 'ओउम् जय जगदीश हरे', गा सकते हैं, कुछ लोग 'अल्ला हो अकबर', गा सकते हैं लेकिन क्या हमारे पास ऐसी प्रार्थनायें नहीं हो सकतीं जिसको सब लोग गा सके और अपने को सकल समाज के साथ खुद से व्यापक ऊर्जा से जोड़ सकें। तब मेरे मने में यह भाव आया था कि इसके लिए कोई सार्वजनिक आधार खोजने होंगे, शिक्षा में यह काम भी अभी बाकी है। इन गतिविधियों के अलावा अलग–अलग तरह के काम करने व सीखने श्रम के प्रति झिझक मिटाने व कामों का मूल्य समझने के लिए अवसर वहां उपलब्ध थे। उसके प्रति मेरा कभी अलगाव न रहा क्योंकि घर से ही अपने काम को करने में मुझमें कोई झिझक नहीं थी। उस एक वर्ष में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह हुई कि कई तरह के लोगों से मिलने, बातचीत करने, उनके अनुभवों को जानने का अवसर मिला। इससे समाज में चल रही अलग–अलग प्रक्रियाओं को देखने में मदद मिली।

खासतौर से गांधी विचार पर आधारित संस्थान होने के कारण गांधीजी व उनके विचारों पर काफी संवाद होता था। अलग–अलग घटनाओं को गांधी जी के दृष्टिकोण से देखने की कोशिश रहती थी। इस अध्ययन के दौरान समझ में आया कि गांधीजी 2 अक्टूबर 1869, जगह–जगह चौराहों पर लगी झुकी कमर, बड़ी ऐनक, हाथ में लाठी वाले स्टेच्यू व 30 जनवरी 1948 को नाथूराम द्वारा गोली से मारने और बिना खड़ग बिना ढाल के देश को आजादी दिलाने वाली न्यूनतम जानकारियों से आगे भी कुछ हैं। जिनमें परंपरागत विषमतावादी समाज व आधुनिक शोषणकारी सभ्यता, दोनों को बदल डालने का एक दृढ़ संकल्प था इसलिए इन व्यवस्थाओं में लगातार संभव सुधार के लिए वे हमेशा तत्पर थे।

इसकी बुनियाद में समाज को युक्तिसंगत बनाने व आत्मविश्वास के साथ अपने पैरों पर खड़ा करने की भावना निहित थी। बावजूद इसके एक आदमी जो कितनी ही महानता की उपाधि से क्यों न नवाजा जाय, वह उस समय के समाज की कमजोरियों–विरोधाभासों का भी एक हिस्सा होता है। सवाल सिर्फ इतना ही है कि उस समय जिन बदलावों को लक्ष्य में रखा गया था उनमें किन माध्यमों से कहां तक पहुंच पाये और किसकी क्या भागीदारी रही। वही अपनी ऊर्जा हुआ करती है। महानताओं की सारी उपाधियां हम ही प्रदान करते हैं। असंगत समाज में महान होना एक उपलब्धि भी कही जा सकती है, दुर्भाग्य भी। क्योंकि महानतायें भी अन्ततः कुछ लोगों के एकाधिकार की वस्तुएं हो जाती हैं। एकता के आधार महानताओं में परिलक्षित नहीं होते वो समूह में मानवीय प्रक्रिया के द्वारा ही अभिव्यक्त हो सकते हैं। इसलिए गांधी महान थे या नहीं, इस बहस में मैं नहीं पड़ना चाहता और इसकी मुझे प्रासांगिकता भी नहीं लगती। हां गांधी ने अपने तमाम तरह के समाज कर्म का निर्धारण किस आधार पर किया और उन लक्ष्यों तक पहुंचने के लिए किन प्रक्रियाओं–साधनों को माध्यम बनाया, उसका कुल साझा अनुभव क्या है? यह शोध का विषय जरूर बनना चाहिए ताकि जो उन परिवर्तन की धाराओं पर आस्था रखते हैं उनको इसकी समझ हो अन्यथा गांधी एक महात्मा से ज्यादा कुछ नहीं रहेंगे। फूल माला चढ़ाने, श्रद्धा–पूजा करने की वस्तु भर केवल।

जिसको गांधी के साथ परिवर्तन की, समाज कर्म की यात्रा करनी है उसको तमाम विरोधाभासों को भी उसी तरह देखना होगा जिस तरह वह महानताओं का महिमा मंडन करता है तब गांधी उनके लिए तमाम तरह की असुविधाओं–विरोधाभासों में रास्ता खोजने का नाम भी होगा। गांधी ने समाज–राजनीति–अर्थ व संस्कृति के (नैतिकता के) क्षेत्र में लीक के हटकर नये रास्तों को आजमाने की कोशिश की। साथ ही गांधी के उन विरोधाभासों को जो आजीवन उनके साथ रहे। उसके लिए भविष्य का संसार खुला है पर गांधीवादी पता नहीं उस दृष्टि से देख पाते हैं या नहीं। वे अपनी धार्मिक पहचान पर कायम रहे। हमेशा ये कहते रहे कि मैं सनातनी हिन्दू हूं या ये बात कि मैं हिन्दू धर्म से ऐसे ही चिपका हूं जैसे कि मां से बच्चा। सत्य ही ईश्वर है कहने वाले आदमी के मुंह से अंतिम शब्द 'हे राम' निकले। जहां सत्य ही ईश्वर होगा क्या वहां अन्य संबोधनों का भी प्रश्न रह जायेगा? शुरू में वर्णव्यवस्था को समाज की बेहतर व्यवस्था बताने वाले गांधी, जीवन के आखिरी सालों में जातिव्यवस्था के सम्पूर्ण उन्मूलन के हिमायती हो गये थे। उन्होंने संकल्प किया था कि ऐसी किसी भी शादी में नहीं जायेंगे, जो एक उच्च व एक नीची जाति के बीच न हो। इन सब प्रक्रियाओं को देखकर लगता है कि उनका विचार व कर्म अपने अनुभवों के साथ आगे बढ़ रहा था। वे किसी अंतिम सत्य पर नहीं थे। उन्हीं के अनुसार उनको, सत्य की कभी–कभी झलक दिखाई पड़ती थी। ये सार्वजनिक जीवन की ईमानदारी ही है कि उन्होंने इस बात को स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि जो बात मैंने आज कही है और आज से दस दिन बाद उसी विषय पर जो बात कहूंगा उसको ज्यादा प्रमाणिक माना जाए। इसलिए कहा जा सकता है कि वो वैचारिक स्तर पर लगातार स्पष्ट हो रहे थे। उन्होंने अपना अंतिम सत्य नहीं गढ़ लिया था कि 'समाज को तो ऐसे ही बदलना है'

मार्क्स की तरह कि समाज के अर्थतंत्र की कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियां होती हैं उसी से समाज बनता है और एक ऐतिहासिक प्रक्रिया पूरी होने पर समाजवाद आयेगा; ऐसे एक नियतिवाद का प्रतिपादन उन्होंने किया। इसलिए समाज के अन्य ताने–बाने, अन्य स्तरों पर जो घटनायें–प्रक्रियाएं चल रही हैं उनकी तरफ देखना उचित नहीं समझा और ऐसा माना गया कि समाज बदलाव का, क्रान्ति का यही एक तरीका है। इसी बात पर आस्था रखकर हजारों नौजवान आज भी उस राह पर हैं। कुल मिलाकर यह भी बेहतर भविष्य में आस्था रख अपने सत्य के अनुसार चलने का तरीका तो है ही।

इस अध्ययन के दौरान समाज बदलाव की अलग–अलग विचारधारओं–प्रक्रियाओं से परिचय हुआ। संस्थान में युवा कार्यकर्ताओं का एक समर्पित समूह था, जो वाकई ईमानदारी के साथ इस बदलाव प्रक्रिया का हिस्सा था। तमाम तरह की असहमतियों के बावजूद परस्पर खुला संवाद एक नई संभावनाओं के रूप में दिखने लगा था लेकिन सामाजिक विषमता के सवाल पर एक अलग रूप में बहस होती थी कि हमको समाज के कमजोर पड़ चुके तबके का आत्मविश्वास जगाना है; अपने धन्धे के प्रति उनमें सम्मान जगाना है, अपनी–अपनी पहचान में गौरव महसूस करें आदि। परन्तु इसमें समस्या यह थी कि उच्च माने जाने वाले समाज का तबका तो अपनी जातीय पहचान की उच्चता के कारण गर्व महसूस कर भी ले पर उसी व्यवस्था में एक अवर्ण कैसे गर्व महसूस कर सकता था जो उसको मनुष्य होने के अधिकार से ही वंचित करती हो। कई बार ये भी स्वर सुनाई देते थे कि भारत शूद्रों का होगा, दलितों का होगा तो लगता था कि भारत दलितों, शूद्रों का क्यों होगा? सर्वजन का क्यों नहीं होगा, मनुष्यों का क्यों नहीं होगा? हां यह सवाल उठ सकता है कि नव निर्माण में अगुवा की भूमिका किसकी होगी क्योंकि लंबे समय सत्ता व संपत्ति का सुख भोगने वाले वर्ग में एक वैचारिक स्तर पर उपदेश और व्यावहारिक स्तर पर नैतिक स्खलन आ जाता है; जिससे उसमें नये बदलाव की शक्ति नहीं रह जाती वह बदलावों से घबराता है इसलिए यथासंभव यथास्थिति बनाये रखने की कोशिश करता है। लगातार अपने संघर्षों से जूझ रहे समाज में एक नैतिक शक्ति भी घर कर जाती है उसमें नये के प्रति आकर्षण होता है। ऐसा समाज नये बदलावों का वाहक बन सकता है, अगुवा हो सकता हैं तब ऐसा महसूस हुआ था।

इन तमाम सवालों को देखने के कुछ नजरिये दुनिया में प्रचलित हैं इस ओर ध्यान गया। केवल स्कूली पढ़ाई–लिखाई में लगातार रहता तो समाज के अन्य सरोकार समझ में न आये होते। लेकिन इस वैकल्पिक शिक्षण प्रक्रिया से जुड़ना वाकई एक नई दिशा रही, जहां से लौटना तब संभव नहीं लगा था। बस यह ठान लिया कि अब इसी दिशा में जीवन यात्रा को लगाना है। इस बीच यह भी लगने लगा कि किसी अन्य प्रचलित विचारधारा में समाधन मिल जायेगा इसकी संभावनायें काफी न्यून हैं। कोई भी विचारधारा कालजयी नहीं होती है क्योंकि उसमें समसामयिकता का एक बड़ा हिस्सा समाहित रहता है; जो ज्यों का त्यों अगले समय काल में भी सत्य हो ऐसा जरूरी नहीं होता इसलिए विचारधाराओं को अपने युग के मुताबिक मांजना होता है, मानवीय बनाना होता है। इस आधार पर अब खुद

सोचना ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया। इस बीच तमाम तरह के विचारकों, कार्यकर्ताओं व समाज राजनीति में अगुवा की भूमिका निभाने वाले लोगों के उच्चतम व निम्नतम तरह के चरित्रों को देखना हुआ। बातचीत में गांधी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करना व व्यवहार में ठीक उलट जैसा बर्ताव, जैसे समाज कर्म में आकर समाज पर एहसान कर दिया हो। अस्पृश्यता निवारण के कार्यक्रम ऐसे चलाना जैसे पर्यावरण दिवस पर पेड़ लगाओ अभियान चलता है। बातचीत में साम्यवाद, पर क्रान्ति के समर्थक, सर्वहारा के राज के सपने। व्यवहार में सामाजिक संबंध के लिए अपनी जाति–बिरादरी, जन्मकुण्डली देखना वहीं बातचीत में धर्म अफीम का नशा। व्यवहार में जनेऊ धारी व पूजा–आरती के थाल के साथ। इन विरोधाभासों को देखकर लगा कि परिवर्तन के नाम पर भी एक दुनिया है जो इन तमाम तरह के परिवर्तनों की खुद को अगुवा मानती है और अपने तात्कालिक सामाजिक–आर्थिक दबावों के चलते उसी व्यवस्था मे फिट होकर अपने क्रान्ति का आपद धर्म भी निभाने का प्रयास करती है ताकि उसकी भी एक तरह से संतुष्टि मिलती रहे।

बावजूद इसके ऐसे लोगों की भी कमी नहीं जो वाकई किसी विचारधारा को समर्पित होकर अपनी मान्यतानुसार, अपनी आस्था–सपने के समाज को गढ़ने के प्रयास में लगे हैं। इन्हीं में से कुछ लोग हैं जिनकी मंशा तो सही है पर काम करने जाते हैं तो ठीक उसका उलट कर बैठते हैं। एक दिन एक सर्वोदयी साथी से बातचीत हो रही थी तो बात–बात में बोल पड़े कि मैंने तो अस्पृश्यता निवारण के लिए काफी काम किया। जब पूछा कि क्या काम किया तो बोले फलाने के घर में खाना खाया, उनको अपने साथ बिठाया। मैंने कहा क्या यही काम अपने घर में कर सकते हो? अपने घर में अपने साथ खाना, अपने परिवार के साथ खिला सकते हो? मेरी बात सुनकर वे सज्जन कुछ अचकचा गये फिर कुछ देर बाद बोले 'मैं खुद तो कर सकता हूं पर अपने घरवालों को नहीं समझा सकता'। तब मुझे उन्हें बोलना पड़ा कि यह किसी के घर खाकर उस पर अहसान करने का कार्यक्रम नहीं है और न ही घर खाने पर बुलाकर पारिवारिक दुविधायें झेलने का। यह तो एक पूरी व्यवस्था की परिणति है और उस व्यवस्था की जड़ों को देखे बगैर काम नहीं चलेगा। उसके लिए तो गांधी जैसे उग्र कदम उठाने होंगे। हमारी इस तरह की कार्रवाइयों से सकल समाज का आत्मविश्वास बढ़ने वाला नहीं है। ये खाना खा लिया, पानी पी लिया भर की बात नहीं है। इससे तो ऐसा लगता है जैसे कोई अहसान कर दिया हो और ये बोलने का गर्व कि इनको अपने साथ बिठाकर खिलाने योग्य समझा है। यह बराबरी का रास्ता नही है, गांधी की इस घोषणा से कितने गांधीवादी इत्तफाक रखते हैं कि ऐसी किसी शादी में नहीं जायेंगे जो एक सवर्ण व अवर्ण के बीच न हो। इस बात को सुनकर वे साथी चुप हो गये लेकिन बदलावों की शुरूआत अहसानों से नहीं हो सकती।

ऐसे ही कई अन्य लोग जो सामाजिक क्षेत्र में हैं, अपनी कहानी सुनाते मिल जाते हैं कि मैंने फलाना कारोबार छोड़ दिया, समाज क्षेत्र में खुद को समर्पित कर दिया, प्रोफेसरी छोड़ दी या कोई नौकरी छोड़ दी। उनसे यह कहने का मन करता है कि क्यों किया आप लोगों ने इतना अन्याय खुद पर कि अपना काम–धन्धा ही छोड़ दिया या उनके शब्दों

में त्याग दिया। थोड़ी बातचीत और की तो समझ में आता है कि अपनी ही किसी अन्य बलवती इच्छा को पूरी करने के लिए सामाजिक क्षेत्र से जुड़े हैं जो अन्य कामों में पूरी नहीं हो पा रही थी। ऐसे में कोई वैचारिक या सामाजिक प्रतिबद्धता की अपेक्षा कार्यकर्ता समाज से करना उनके प्रति ज्यादती होगी। वे समाजकर्म में, सार्वजनिक जीवन में अपने आने को कुछ ऐसा समझते हैं कि जैसे वे इस काम से न जुड़े होते तो दुनिया पता नहीं किसी रसातल में चली गयी होती और जिन धन्धों को छोड़कर आये हैं उनकी श्रेष्ठता का गुमान मनोमस्तिष्क से जाता ही नहीं है। गांधी ने तो इन्हीं तमाम धन्धों को समाज के लिए अनावश्यक बताया था। आज गांधी होते तो संस्थाओं के धन्धों पर भी उनकी ऐसी ही राय होती। गांधीवादी परिवर्तनकारियों में गांधी के समाज में समता की कसौटी दो अन्तर्जातीय परिवारों में संबंध इनके एजेण्डों में नहीं है। बस किसी अवर्ण के घर खाना खा लिया उसको धर्मसंकट में डालकर व ढ़िढोरा ऐसा पीटा जैसे इस बेचारे पर बहुत बड़ा अहसान कर दिया हो। यह हमारे समाजकर्म की एक निकृष्ट अभिव्यक्ति हैं हम यहां यह कहना चाहते हैं कि समाज में अलग–अलग समूहों के बीच पारिवारिक मैत्री व सहयोगपूर्ण संबंध स्थापित न कर पाना हमारी मानसिक गरीबी व सामाजिक अयोग्यता का लक्षण है, सामाजिकता की समग्रता का अभाव है। यदि इस बिन्दु से यात्रा शुरू होती है तो किसी अवर्ण के घर खाना खाना या उसे अपने घर पर खाना खिलाने जैसी बात भी उस समग्र उद्देश्य का एक हिस्सा होगी जहां यह अपनी सामाजिक अयोग्यता को दूर करने का माध्यम तो हो ही साथ में सकल समाज के प्रति अपने मन में मैत्री व सहयोग के भाव के विस्तार का वाहक भी होगी। यह समतापूर्ण समाज की तरफ रास्ता होगा। इस संपर्क में न किसी अहसान के लिए जगह होगी, न अपने अहंकार की पुष्टि के लिए या इस प्रचार के लिए कि 'साहब मैंने कितने पिछड़ों–दलितों–गरीबों का उद्धार कर दिया है, उनको तार दिया है'।

आज कोई भी समाज–वर्ग अपने प्रति उपकार नहीं बल्कि स्वाभाविक बराबरी चाहता है और वह बराबरी इस चित्त मानस के चलते नहीं हो सकती। सामाजिक कार्यकर्ता का यह व्यवहार है तो एक सामान्य नागरिक से क्या अपेक्षा की जा सकती है। किसी भी समाज में उद्धारक व ताकत बनकर आप जायेंगे तो अपना और समाज, दोनों का नुकसान ही करने वाले हैं। सकल समाज की समतापूर्ण सोच को अनिवार्यता मानते हुए जायेंगे तो शायद उसका तरीका दूसरा होगा। मैंने कहीं नहीं पढ़ा कि गांधीजी ने यह कहा हो कि मैंने फलाने हरिजन को अपने पास बिठाया, खाना खिलाया इत्यादि। उन्होंने तो यह कहा कि अस्पृश्यता हिन्दू समाज के माथे पर कलंक है, इस कलंक को मिटाना हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है। इस बिन्दु से शुरुवात होती है तो समाजकर्मी के किसी भी क्षेत्र में व्यक्ति इस अहंकार से नहीं आयेगा कि देखो ! मैंने इस काम में आने के लिए अपना कारोबार छोड़ दिया या नौकरी छोड़ दी। ये मानसिकता कहीं नहीं ले जा सकती। गांधी की समाज कर्म की मानसिकता कहती है कि मैं इस समाज कर्म के माध्यम से अपनी असलियत को पहचानने की तरफ बढ़ रहा हूं। आज कितने सामाजिक–राजनैतिक कार्यकर्ता हैं जो सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में इस कर्म को करते हुए अपनी असलियत को पहचानने में

लगे हैं। समाज कर्म समग्र समाज के साथ उनकी अपनी जिन्दगी के शुद्धिकरण का भी रास्ता हैं क्योंकि इस बिन्दु से शुरू होकर खुद व समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी और ज्यादा बढ़ जाती है और यह काम किसी को सुधारने के लिए नहीं होता बल्कि इसके माध्यम से हम और हमारे माध्यम से इस व्यवस्था के ज्यादा मानवीय होने की संभावना बनती है। अन्यथा भाषणबाजी, उपदेशों की कला में माहिर लोग अपने भाषणों, उपदेशों में रोज दिवास्वप्न की तरह एक नई दुनिया बनाते हैं और वास्तविक जीवन के विरोधाभासों में जस के तस हैं इसलिए लोगों की समाज परिवर्तन के प्रति निष्ठा घटने लगी है।

आज जब कोई युवा कार्यकर्ता किसी परिवर्तनकारी विचार से प्रेरित होकर समाज कर्म में आता है तो उसमें वाकई कुछ करने की ललक होती है, कुछ नया सोचने, कुछ नया करने की ललक, पर जिन रास्तों से उसे गुजरना है वहां पहले से ही कई परिवर्तनकारी लोग मौजूद हैं। जब वह उनके संपर्क में आता है तो उसके विचारों की दाद दी जाती है, उसको हनुमान इत्यादि न जाने कितने तरह की उपाधियों से नवाजा जाता है। अंततः अपनी आजीविका की बाध्यता के चलते यही कार्यकर्ता समाज कहीं संस्थाओं में नौकरी करने को बाध्य होता है। उसको समाजकर्म हेतु सम्मानजनक रूप से आजीविका चलाने का कोई ठोस माध्यम नहीं मिल पाता है। इसी के चलते आज कार्यकर्ता समाज किसी संस्था या कंपनी में आजीविका के लिए चाकरी करने को बाध्य हैं जिससे धीरे–धीरे उसका उत्साह, थकान में बदलता जाता है क्योंकि हर संस्थान के अपने एजेण्डे हैं और हर एजेण्डा उस पर मिलने वाले फण्ड पर निर्भर करता है। आज पानी पर फण्ड मिल रहा है तो पानी पर काम चलेगा। 3 साल बाद पानी पर फंड मिलना बंद हो जाएगा, फिर बाल मजदूरी वाला फंड आ जायेगा, फिर पर्यावरण बचाओ आ गया तो यह एक अन्तहीन सिलसिला है। असल में कई बार ये मुद्दे ही हमारे नहीं होते; आयातित पैसे की तरह मुद्दे भी आयातित होते हैं। उन्होंने कहा तुम्हारे वहां बाल मजदूरी बहुत हैं यह तो गलत बात है यह नहीं होना चाहिए तो हम भी हां में हां मिलाते हैं। इस तरह के आयातित मुद्दों की फेहरिस्त लंबी है इस सिलसिले में हमारी अपनी दृष्टि, क्रान्ति की भावना कब खो गयी, पता ही नहीं चल पाता। जो बात सामाजिक घटकों पर लागू होती है वही बात राजनीतिक प्रक्रियाओं पर भी लागू होती है। एक बारगी कोई जुझारू कार्यकर्ता इसमें पड़ गया तो उसके बाहर निकलने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और धीरे–धीरे उसी रंग में ढलने लगता है या नहीं ढल पाया तो जो ढल गये उनको गलियाने का कार्यक्रम बनता है। अन्ततः अपनी संतुष्टि का हर रास्ता निकाल ही लेता है। जिस संस्कृति में बदलाव के लिए वह सामाजिक–राजनैतिक जीवन में आया है उसको ऐसी परिस्थिति में खोजना व्यर्थता है।

अब तो सामाजिक कार्य की बाढ़ आ गयी है। तमाम उद्योगपति, पूंजीपति, कलाकार इत्यादि सामाजिक कर्मों के क्षेत्र में हैं। जहां कार्यकर्ता को मोटी तनख्वाह मिलती है, पूरी तरह आर्थिक सुरक्षा है। पर वह कार्यकर्ता परिवर्तनकारी नहीं बल्कि किसी फर्म, किसी कंपनी का नौकर भर है। इस तरह समाज कर्म में भी कार्पोरेटीकरण हावी हो रहा है जो परिवर्तन को भी मार्केट में उत्पादित वस्तु की तरह समझता है। जहां मुद्दे वैसे ही बदलते

हैं जैसे विज्ञापन की दुनिया में एक क्रीम गोरा नहीं कर पा रही है तो दूसरी क्रीम उपलब्ध कराई जाए। गली–गली सामाजिक संगठनों–संस्थानों की बाढ़ आ गयी है और समाज कर्म में इनकी प्रतिबद्धता कम होती जा रही है। आज से 10–12 साल पहले जब हम लोग गांव में जाते थे लोगों से बातचीत करते थे, तो एक तरह का सहयोगपूर्ण रवैया था लोग चंदा भी इक्ट्ठा करके देते थे। आज संस्थाओं ने ऐसा माहौल बना दिया कि गांव में घुसने पर लोग बोलते हैं कि अच्छा एनजीओ वाले हो? कितने पैसे मिलते हैं? एनजीओ से होना एक गाली जैसा लगने लगा है। इस तरह लोगों के सवाल बदल गये क्योंकि समाज कर्म की संस्कृति बदल जाने से उसकी विश्वसनीयता बदल गयी। तमाम कारणों में इसका एक कारण यह भी है कि सामाजिक संगठनों की प्रतिबद्धता समाज कर्म के प्रति कम बल्कि उन दाता एजेन्सियों से ज्यादा है जो इस काम के लिए पैसे दान देकर अपने पापों का प्रायश्चित कर रहे हैं और पुण्यार्जन कर रहे हैं। अपने आकाओं को खुश रखना इस तरह के परिवर्तनकारी संगठनों–संस्थाओं की विवशता है। इसलिए तमाम जुझारू कार्यकर्ता भी एक समय सीमा के बाद इस कारपोरेटरी परिवर्तन का हिस्सा बनता जा रहा है। इससे आजीविका की कुछ हद तक सुरक्षा तो हो जाती है जो आवश्यक भी है लेकिन जिस उद्देश्य हेतु चले थे, वह कहीं धूमिल हो जाता है। समाजकर्म के माध्यम से सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक क्रान्तियों का दौर धीरे–धीरे सिमटता दिख रहा है और परिवर्तनकारी संगठन अवसरवादिता की तलाश में ज्यादा नजर आते हैं इसलिए समाज कर्म की भी चुनौती है कि यह भी कहीं एक बेहतरीन धन्धा न बन जाय जैसा कि अब दिखने लगा है। सामाजिक संगठनों के शिखर चोटी पर जो लोग हैं उनके ठाट–बाट देखकर तो यह कहा ही जा सकता है, कि वे पूंजीपति नहीं तो उससे कम भी नहीं हैं। भले ही जो कार्यकर्ता स्तर पर लोग काम कर रहे हैं वे आर्थिक व मानसिक दोनों हालातों में बमुश्किल निर्वाह कर रहे हैं। वो इस वीआईपी परिवर्तन के पायदान पर अपने को बनाये रखने का संघर्ष भी कर रहे हैं, तमाम तरह के संगठनों पर यह बात लागू होती है। आरएसएस जो मेरी ज्ञात जानकारी में सबसे बड़ा एनजीओ कहा जायेगा। मुझे नहीं पता कि उसका आर्थिक बंदोबस्त कैसे और कहां से होता है पर धरातलीय स्तर पर जो कार्यकर्ता है वो तमाम हालातों से जूझ ही रहा है। भले ही उसके पास एक सांस्कृतिक लक्ष्य हो कि वह हिन्दू समाज का अगुवा है व ऐसे सांस्कृतिक मूल्यों का वाहक है।

ऐसे ही संगठन अन्य धार्मिक समूहों में भी होंगे; जो ये मानते हैं कि उनका संगठन ही इस समाज की भावनाओं को व्यक्त करने का एकमात्र प्रतिनिधि है। सारे सामाजिक–राजनैतिक परिवर्तनकारी संगठन इस गलतफहमी में रहते ही हैं। किसी एक विचार को समाज परिवर्तन की कसौटी मानकर सारे समाज को उस दिशा में ले जाने की कोशिश संगठन–परिवर्तनकारी लोग करते ही हैं और उसके जो संभावित परिणाम हो सकते हैं वो आते ही हैं। किसी विचार का वाद बन जाना इसी की कड़ी है। गांधीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद इत्यादि इसी की कड़ियां हैं, जिनमें समाज को एक खास विचारधारा के तहत एक खास दिशा में ले जाने का आग्रहपूर्ण कर्म निहित है। अपनी आस्था की विचारधारा को ही सत्य मानना इसके मूल में है। इन विचारधाराओं के

तहत संघर्षरत लोग कई तरह की क्रान्तियां भी कर चुके हैं लेकिन समाज बदलाव की अपनी गति है। समाज के हर आयाम व फिर पूरी समग्रता में देखे बिना किसी एक राह को आस्थावश पकड़ना और उस पर चलने के क्या परिणाम हो सकते हैं, इसका इतिहास हमारे सामने पड़ा है। इसलिए अपने निश्चित एजेण्डे के घेरे से बाहर निकलकर, कई बार अपने विचार के काल्पनिक आनन्दलोक से बाहर निकलकर वास्तविक परिस्थितियों में आज समाज का हर तबका किस तरफ गति कर रहा है, इसको देखकर अपने–अपने सत्यों को टटोलना जरूरी हो गया है। अन्यथा हमारे परिवर्तनों की विचारधारा के परिणाम में हमेशा फिर से एक संकरी गली दिखाई देती है। हर क्रान्ति एक बंद गली के दर्शन कराती है।

मैं भी एक सामाजिक कार्यकर्ता हूं। इस संबोधन व जिम्मेवारी से बच नहीं सकता। यह समाज कर्म मेरे लिए जीवन व जगत दोनों को समझने का बेहतर माध्यम साबित हुआ है। सामाजिक कर्मों में लगे सहकर्मी साथियों से भी सीखना हुआ। साथ ही अपनी व उनकी सीमायें भी समझ में आईं। संगठनों में यह साफ देखा जा सकता है कि कुल प्रयास, सामूहिक कर्म से एक छोटी सी सत्ता मिलती है और उसी छोटी सी सत्ता के लिए सारे लोग अपना–अपना श्रेय लेने के लिए उत्सुक दिखाई देते हैं। किसी बड़ी सत्ता का घेरा बनाना तो दूर रहा इसी में एक–दूसरे को कम–ज्यादा आंकने की, नीचे–ऊपर खींचने की कोशिश की जाती है। हम यह कहना चाहते हैं कि यदि सत्ता में भागीदारी की इतनी चाह है तो सांगठनिक घेरे को बड़ा बनाना होगा ताकि सबकी भागीदारी की स्पष्टता हो तो श्रेय भी स्वाभाविक रूप से जायेगा। चार–पांच संस्थाओं–संगठनों के बीच में अपनी या एक–दूसरे की वाहवाही करने से न समाज में क्रान्ति होनी है न खुद व संगठन की संस्कृति में बदलाव आना है। आत्ममुग्धता–आत्मस्तुतियां परिवर्तनगामी नहीं होतीं। किसने कितना अच्छा बोला, भाषण दिया। इन आधारों पर एक–दूसरे से ज्यादा होने, घोषित करने की एक निहायत कमजोर सोच से कोई संगठन अपने भीतर व इतर संगठनों के साथ समन्वय बिठाकर एक बृहद घेरे का निर्माण नहीं कर सकता। इतिहास इसका गवाह है। यदि लक्ष्य बड़ा होगा तो भागीदारी व दायरा भी बढ़ेगा। आज देश–समाज में चल रही अलग–अलग लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को समझकर उनकी पहचान करना और लगातार उनको ज्यादा स्वस्थ बनाने हेतु पहल करना एक आवश्यक कर्म है क्योंकि बाजारीकरण के इस काल में राजनैतिक दलों की अपनी स्वायत्त विचारधाराओं की पहचान का मिटते जाना एक दुःखद विषय है। इस पर चिन्तन आवश्यक है कि विभिन्न राजनैतिक दलों की देश–समाज के तमाम सवालों पर अपनी स्वायत्त सोच क्या है? और यह दृष्टि तथा सोच समाज को कहां ले जाने वाली है। आज सत्ता में कोई भी दल आये उसकी अपनी विचारधारा–दृष्टि कहीं दिखती नहीं कि हां इस संदर्भ में फलाने दल की यह राय है।

क्या हम विचारधाराओं–दृष्टियों के अवसान के युग में कदम नहीं रख रहे हैं। जहां अच्छा–बुरा, सही–गलत का कोई भेद, कोई कसौटी न रह जाय। बस चमक–दमक को ही सही का पर्याय मान लिया जाय। राजनीतिक दलों की दृष्टि साम्यतायें इस बात पर सोचने को विवश करती है। नीति–निर्धारकों की सोच का मिलना इस बात से जाहिर होता

है कि पिछली सरकार के कांग्रेसी वित्तमंत्री जी ने कहा था कि निर्धनता मुक्त भारत की मेरी दृष्टि यह है कि देश की लगभग 85 प्रतिशत आबादी शहरों में रहने लगे। वर्तमान सरकार के शहरी विकास मंत्री भी यही कह रहे हैं कि हम देश में 2020 तक 100 स्मार्ट और सुरक्षित शहर बनायेंगे। अब इनसे कोई पूछे कि वर्तमान समय में देश में कितने स्मार्ट व सुरक्षित शहर हैं? ये नीति और सोच की दृष्टि से साम्यीकरण है। इस अर्थ में कोई भी दल की सरकार आये, परिणाम एक जैसा ही होना है। उनका कहना है कि शहरी वातावरण में गांव की अपेक्षा ज्यादा बेहतर ढंग से पानी, बिजली, सड़क, मनोरंजन, सुरक्षा की व्यवस्था की जा सकती है। क्या ये सब आज के शहरों में उपलब्ध है? क्या गांव के पास उनकी आजीविका का कोई आधार नहीं बचा है? इन सवालों पर वो सोचेंगे जो इस सोच को चुनौती देना चाहेंगे। अभी हाल में एक अखबार में पढ़ा कि भारत दुनिया के दस शीर्ष बाजारों में से एक है। कभी हिन्दुस्तान दुनिया के समृद्धतम सांस्कृतिक समाजों में गिना जाता था। आज मार्केट हैं, अमेरिका इत्यादि देशों को इस मार्केट में बड़ी संभावनायें दिखती हैं इसलिए वह समय व मौका देखकर हमारी वाहवाही कर दिया करता है। विदेशी पूंजी व तकनीकी की खुलेआम समर्थक सरकारें क्या ऐसी नीतियां संचालित कर पायेंगी जो देश के नागरिकों को गौरव तथा सामर्थ्य एवं समृद्धि प्रदान करें? ये लोकतंत्र की चुनौती है।

इस परिवेश में दलीय राजनीति के तमाम जटिल आयामों पर डायलॉग के साथ लोगों के मुद्दों को ज्यादा संवादात्मक बनाना, यह अपने आप में परिवर्तन का एक व्यापक लक्ष्य है ताकि परिवार से लेकर वैश्विक स्तर तक के सवालों, मुद्दों पर संवाद की एक नई संस्कृति बने। अलग–अलग मंचों पर लोगों के बीच बातचीत का एक स्वस्थ्य माहौल बन सके। लोगों की आवाज होगी तो तमाम गैरबराबरियों पर यह संवाद चलाया जा सकता है ताकि ज्यादा लोकतांत्रिक व ज्यादा बराबरी की समझ बने; प्रकृति व आपसी रिश्तों के मापदण्डों पर बहस हो। ऐसा लोकतंत्र, जो समस्त पारिस्थितिकीय घटकों को खुद में समेटे होगा। इससे जो सत्ता उपजेगी वह किसी संगठन विशेष नहीं बल्कि समग्र समाज की ऊर्जा को बढ़ायेगी। उसमें नया आत्मविश्वास पैदा करेगी। तब संस्थायें–संगठन कोई अलग समूह नहीं बल्कि समग्र समाज का हिस्सा होंगे। उन्हें समाज को ये विश्वास दिलाना होगा कि वे किसी व्यक्तिगत हित या सत्ता हेतु नहीं बल्कि समग्र समाज में लोकतांत्रिक संवादों की पहल का जरिया भर हैं। खुद स्वयंभू परिवर्तनकारी नहीं इसलिए लोगों के मुद्दों को साझा करने के साथ–साथ अपनी यात्रा को ज्यादा सार्थक बनाने की कोशिश करनी होगी। अन्यथा अब तो समाज कर्म में भी डिग्रियां दी जाने लगी हैं। कई साथियों से पूछा कि क्या कर रहे हो? तो जवाब मिलता है कि सामाजिक कार्य में बी.एस.डब्लू. कर रहा हूं, एम.एस. डब्लू. कर रहा हूं। ये सामाजिक कार्य को भी एक पेशे में तब्दील करने की कवायद है। सामाजिक कार्य में भी विशेषता चाहिए, डिग्री चाहिए क्योंकि दुनिया का डिजाइन ऐसा निर्मित हो रहा है। उससे निर्मित परिवेश में कोई भी काम अछूता न रह जाय ऐसी कवायद चल रही है। हमको ध्यान आता है कि गांधीजी ने समाज कर्म का क्या प्रशिक्षण लिया था? कौन सी डिग्री को लेकर, किसी प्रशिक्षण कोर्स में रहकर सीखा था या आखिरी आदमी में दरिद्रनारायण के दर्शन करने का प्रशिक्षण उन्होंने किसी कॉलेज–यूनिवर्सिटी में लिया था।

या समाज के साथ जीते हुए तमाम स्थिति–परिस्थितियों में खुद को देखकर अपनी समाज कर्म की दिशा तय की थी और उसमें लगातार अपनी चेतना के घेरे को बढ़ाते हुए खुद को समाज के योग्य बनाते गये थे। ये सवाल आज करने पड़ेंगे ताकि सामाजिक परिवर्तन के नाम पर आज जिस तरह का चेहरा उभरकर आ रहा है उसको ठीक से समझा जा सके। यह एक बड़ा खतरनाक रोग है कि हमने जिन्दगी को इतने भागों में बांटा हुआ है कि हर भाग को महान घोषित किया कोई अपने आप में क्षुद्र हो गया। समाज कर्म को भी एक विशेषज्ञता के दायरे में बांधने की एक कोशिश ऐसे ही चल रही है। इतने तरह के विरोधाभास जिससे उपजे दिखाई पड़ते हैं।

केवल हुनर या किसी कला के माध्यम से चीजों को, लोगों को बांटना यह बीमारी नई नहीं है, प्राचीन है। यह महान दार्शनिक है, आध्यात्मिक है, धार्मिक है, वैज्ञानिक है, राजनीतिज्ञ है; सामाजिक कार्यकर्ता इत्यादि। ऐसे ही सामाजिक कर्म भी एक फैशन बन गया है। यह दार्शनिक है मतलब एक खास समूह को दर्शन की जरूरत है बाकी से इसका कोई सरोकार नहीं। एक खास समूह आध्यात्मिक, बाकी का अध्यात्म से कोई सरोकार नहीं। हमारी परंपरा भी हमको ऐसे ही विभाजन सिखाती है। इन संबोधनों के माध्यम से कुछ लोग समाज में प्रतिष्ठा पा रहे हैं क्योंकि समाज का बहुसंख्य हिस्सा वैसा नहीं है जैसा यह खास समूह दीखता है। पुराने धंधों की तरह आज भी धन्धों के आधार पर लोगों को पहचानने की कोशिश की जाती है। आज टीचर हैं, प्रोफेसर, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, पुलिस, डी.एम. इत्यादि हैं जैसे किसी धन्धे को करना ही आदमी के जीवन की धन्यता हो। आज कोई व्यक्ति उपदेश प्रवचन देगा तो स्वामी, योगी कहलायेगा। कोई भाषण दे तो नेता कहलायेगा। कुल मिलाकर धन्धों–नौकरी से आदमी की पहचान हो रही है, जबकि यह केवल आजीविका का साधन भर है। विडंबना यह है कि हमने मानवीय व्यवहार को भी धन्धे में तब्दील कर दिया है। कुछ धन्धे व कागज–कलम से किया जाने वाला काम श्रेष्ठ माना जाता है। जैसे आज नाच–गाने, नाटक का धन्धा खूब फल–फूल रहा है क्योंकि भौतिक त्रासदी के इस युग में मनोरंजन लोगों के जीवन की जरूरत बन गया है तो मनोरंजन की मांग बढ़ गयी इसलिए बाजार ने मनोरंजन का बड़ा धन्धा खड़ा कर लिया और वो खूब फल–फूल भी रहा है। मनोरंजन करने वाले लोग किसी दैवीय शक्ति से कम नहीं, वो हमारे हीरो, हीरोइनें हैं। ये आज प्रतिष्ठा के धन्धे हैं और इनको करने वाले प्रतिष्ठित लोग और ऐसा हर युग में होता आया है। आज गरीबी बढ़ रही है, पर्यावरण का क्षय हो रहा है, बेरोजगारी बढ़ रही है, बीमारियां बढ़ रही हैं, आपसी वैमनस्य बढ़ रहा है तो निश्चित है कि समाज में डॉक्टर वकील का धन्धा चलेगा और प्रतिष्ठा भी मिलेगी। चारों तरफ अशान्ति व असुरक्षा के वातावरण में उपदेशकों की भीड़ यत्र–तत्र दिखाई दे तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि वर्तमान व्यवस्था की त्रासदी से अतृप्त लोगों की फौज इससे जुड़ी है। किसी समय में खाने–कमाने के साधनों की कमी न रही होगी क्योंकि स्वायत्त अर्थव्यवस्था थी उस समय में आत्माओं को तारने–तारने का धन्धा खूब फल–फूल रहा था। लोगों को स्वर्ग–नरक भेजने का कार्यक्रम। ऐसा कराने वाले लोग तब प्रतिष्ठित थे और अन्य धन्धे अप्रतिष्ठित।

आज के प्रतिष्ठित धन्धों में भी ऐसा है लोग अपने नामों के आगे–पीछे इन धन्धों से संबधित संबोधनों को जोड़ते ही हैं जैसे डॉ फलाना, प्रोफेसर, एडवोकेट, इंजीनियर इत्यादि। धन्धों की प्रतिष्ठा व स्वयं की पहचान, सम्मान का आधार भी ये काम ही माने जाते हैं। कुल मिलाकर कोई कला, कोई हुनर, कोई धन्धा पेशा हमारी पहचान, सम्मान व प्रतिष्ठा का परिचायक बना हुआ है। हकीकत यह है कि धन्धे का रूप कितना ही श्रेष्ठ क्यों न माना जाये, उसका आदमी की प्रतिष्ठा से नहीं बल्कि रोजी–रोटी से संबंध है। यहां फर्क सिर्फ इतना है कि किसान भी खेती करके रोजी–रोटी कमाता है और डॉक्टर–वकील भी। लेकिन एक का सीधा रिश्ता है और दूसरे का घूम–फिरकर। इसलिए शायद गांधीजी ने कहा कि एक स्वस्थ समाज की तरफ हमारी गति बढ़ेगी तो डॉक्टर, वकील आदि जो धन्धे हैं उनका कोई स्थान इस रूप में न रह जायेगा। वर्तमान व्यवस्था की त्रासदी के कारण आज ये धन्धे चल रहे हैं। ये सामाजिक व्यवहार से जुड़े काम हैं, जिनमें शारीरिक श्रम का नितान्त अभाव है। ऐसे धन्धों को समाज में प्रतिष्ठिा कम मिलनी चाहिए। तब डॉक्टर व वकील अपने पेशेवर धन्धों के साथ नहीं बल्कि यदि उन्हें वाकई स्वास्थ्य व समाज के लोगों के बीच सहयोग की समझ हो तो वे स्वयंसेवक की तरह काम करेंगे ताकि लोगों में स्वास्थ्य के प्रति जागृति व परस्पर मैत्री की स्थापना हो सके। ये उनका लोकतांत्रिक व्यवस्था में स्थान होगा। बदले में समाज स्वेच्छा से इनको भी पारितोषिक देगा, जो इनकी आजीविका हेतु होगा। साथ ही समाज अपनी शारीरिक व सांबंधिक जिम्मेदारी की तरफ बढ़ेगा। वो अपनी तरफ गैर जिम्मेदारी से भरा नहीं होगा।

दूसरी तरफ और भी मानवीय व्यवहार के काम हैं जो काफी प्रतिष्ठित हैं; वो पहले से प्रतिष्ठित हैं। आज भी ये सुनाई पड़ता है कि ये स्वामी जी हैं, संत हैं, फकीर हैं, महात्मा हैं, गुरूजी हैं, महापुरूष हैं, योगी हैं इत्यादि; इनको ज्ञान प्राप्त है, आध्यात्मिक, दार्शनिक हैं आदि। इन्होंने इतना बड़ा त्याग कर दिया। जैसे कि जो उन्होंने पाया वो बहुत छोटा हो और जो त्याग किया वो काफी बड़ा था तो फिर त्याग ही क्यों किया और कर ही दिया तो प्रचार की आवश्यकता क्या? जो छोड़ दिया उसका रोना क्यों रोना है, जो पाया उसका जश्न–आन्नद क्यों न मनाया जाय। फिर क्या ज्ञान पाया है? इस सवाल के जवाब में सामान्यतः यह सुनाई पड़ता है कि इनको गीता के 18 अध्याय कंठस्थ हैं, कुरान की आयतें या बाइबिल के उपदेश याद हैं। अर्थात् इनको सब याद हैं जब चाहें तब बोल सकते हैं। अपने स्कूल के दिनों में भी हमको यही सिखाया गया कि कंठस्थ करना है याद करना है तब कुछ–कुछ समझ में आने लगा कि किन्हीं जानकारियों को कंठस्थ करने, याद करने व बोल देने से जीवन की समझदारी का कोई संबंध नहीं है, याददाशत से संबंध है और जिधर ठीक से ध्यान दिया वहां याद करना मुश्किल काम नहीं है। यह वर्तमान की मशीनी प्रक्रिया की तरह है कम्प्यूटर नाम की मशीन में कई तरह की जानकारियां हम फीड करते हैं वहां सारी जानकारियां एक साथ आ जाती हैं तत्संबंधी फाइल खोलो, देख लो; जितनी जानकारी चाहिए उतनी ले लो। इसके लिए दिमाग को तंग करने की आवश्यकता नहीं। कमाल यह है कि जिसने ज्यादा याद कर लिया वही ज्यादा ज्ञानी, विद्वान माना जाता है, शिक्षित माना जाता है भले ही उसने जो याद किया है उससे उसके जीवन का कोई संबंध

न हो या कोई संबंध न जोड़ पाया हो।

हमारी शिक्षा का सारा प्रशिक्षण भी कोई धन्धा सिखाने का है। पढ़ाई–लिखाई सिखाना भी आखिर एक हुनर सिखाना ही है। पढ़ाई–लिखाई आदमी करता ही इसलिए है कि कोई काम–नौकरी मिल जाए और आजीविका ठीक–ठाक ढंग से चल सके। वर्तमान पढ़ाई–लिखाई में तमाम तरह की मान्यताओं–जानकारियों का एक हिस्सा है जो खास दिशा में सोचने के लिए प्रेरित करता है; कुछ हिस्सा, कुछ खास तरह के हुनर–धन्धे सिखाने का है जो मामूली सा है। बाकी समाज के समग्र सवालों पर, जीवन पर संवाद का हिस्सा पूरी तरह गायब है जो हमें क्यों जीना है और कैसे जीना है? जैसे सवालों पर सोचना सिखायें। ये समझाए कि अभी तक के हमारे समाज का समग्र अनुभव क्या है और उस अनुभव को कैसे समृद्ध किया जा सके ताकि समाज ज्यादा मानवीय बन सके। इस दृश्यमान संसार का क्या अर्थ है? क्या यही एकमात्र सत्य है या इसकी उपयोगिता क्या है? यह समझायें कि स्वयं में अलग–अलग भाव–विचार कैसे घटित होते हैं। वर्तमान व्यवस्था की जकड़न व यथेष्ट व्यवस्था की समझ हेतु दृष्टि प्रदान करे। प्रकृति के साथ तालमेल व सामाजिक संबंधों में समता स्थापित हो उस बुनियादी आधार पर जीविका की व्यवस्था क्या होगी? इस बात पर हुनरों की प्रासांगिकता निर्भर करती है। तब शायद कई धन्धों के मानवीयकरण व सामाजीकरण की आवश्यकता पड़े, कई अनावश्यक साबित हों। अधिक से अधिक वस्तुओं को बाजार हेतु तैयार करने की पद्धतियों पर शायद पुनर्विचार की आवश्यकता पड़े।

यहां बुनियादी सवाल यह है कि आदमी की अस्मिता, पहचान, महत्व का किसी हुनर, धन्धे से क्या संबंध है? खास तरह की जानकारियां याद होने का, विद्वान होने से क्या संबंध है? ये सवाल ज्ञान व कर्म के सवाल पर नई दिशा में ले जाने में सहायक होंगे। तब समझ में आयेगा कि स्कूल–कॉलेज में ज्ञान के नाम पर जो मान्यताएं परोसी जाती हैं वे भी हमारे लिए सूचना भर हैं। यह सवाल उठेगा कि एक डॉक्टर, इंजीनियर, वकील का पेशा करने वाला व्यक्ति एक जिम्मेदार नागरिक, पति, पत्नी, भाई, मित्र या संबंधी के रूप में भी पहचाना जा सकता है? समग्र समाज को मानवीय, लोकतांत्रिक बनाने में भी उसकी कोई भूमिका है? क्या एक दार्शनिक, आध्यात्मिक, योगी, स्वामी कहे जाने वाले व्यक्ति की जिम्मेदारी इतनी ही है कि वह हमेशा उपदेशक, प्रचारक की भूमिका में रहेगा या समाज को अधिक मानवीय बनाने के लिए अपनी दार्शनिक–आध्यात्मिक पहचान के साथ–साथ मनुष्य होने व सकल समाज के सभी आयामों में भी दीक्षित–प्रशिक्षित होगा। ताकि उसको भी जीवन के अन्य आयामों का अनुभव हो सके व अन्य लोगों से खुद को श्रेष्ठ घोषित करने की जुगत से छुटकारा मिल सके। एक दार्शनिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक कहे जाने वाले व्यक्ति को भी अपनी जीविका संबंधी व्यवस्था के लिए उस व्यवस्था से गुजरना होगा जो व्यवस्था श्रम आधारित है। ऐसे समाज में दार्शनिक, आध्यात्मिक होने का इतना ही अर्थ होगा कि हम समाज में प्रकृति के साथ तालमेलपूर्वक अपनी जीविका का अर्जन कर रहे हों और अपनी आध्यात्मिक–दार्शनिक जिज्ञासाओं का अर्थ इतना ही होगा कि मानव समाज में ज्यादा सहयोगी, मित्र के रूप में नजर आ रहे हों और समाज को इस रूप में

स्वीकार कर पा रहे हैं। इस तरह आदमी का जीवन खण्ड–खण्ड में न बंटा होकर एक समन्वय होगा। और ब्रह्म की जिज्ञासा, पारलौकिक संसार की जिज्ञासा में लगे व्यक्तियों व खेती–किसानी के माध्यम से जीवन यापन करने वाला व्यक्ति अलग–अलग न होकर एक समन्वय होंगे इतने तरह के व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं।

यदि जीवन के तमाम सवाल हैं तो वे हर मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण हैं। किसी खास वर्ग के सवाल बन जाते हैं तो एक और खास समूह खड़ा हो जाता है जो उनके आधार पर खुद को समाज से अलग घोषित करता है और अन्ततः एक सामाजिक विभाजन का कारण बनता है। एक समता की तरफ बढ़ रहे समाज में इस तरह की परिस्थितियों का कैसे आंकलन–मूल्यांकन किया जायेगा, यह चिंतन का विषय होगा। किसी भी धन्धे की इतनी ही उपयोगिता है कि उससे समाज कितना युक्तिसंगत हो रहा है व प्रकृति कितनी समृद्ध क्योंकि धन्धे व कलायें हजारों हैं। एक आदमी एक शरीर यात्रा में दो–चार काम ही कर सकता है। इसलिए समाजोपयोगी कोई एक–दो काम सीखकर जिन्दगी चल सकती है। लेकिन समझना जिन्दगी के सब आयामों में होता है। मनुष्य बहुआयामी है। उसे जीवन के सवालों का समाधान चाहिए। जिस भी हिस्से में समझ की कमी महसूस होगी, वहां अधूरापन नजर आयेगा। यह अधूरापन किसी कला, हुनर से पूरा नहीं किया जा सकता। इसलिए ऐसे सवाल जो मानव–मानव व मानव तथा इतर जगत से संबंधों को समझने के लिए जरूरी हों। एक बेहतरी की तरफ बढ़ रहे समाज में संवाद का विषय हैं।

वर्तमान में मशीनी दुनिया ने कुछ नए तरह के धन्धों को पैदा किया है पर क्या यही मशीनें मनुष्य को उसकी शाश्वत चाह में भी तृप्त कर सकती हैं? कम मशीनी दौर में मनुष्य ने परस्पर मैत्री, विश्वास, त्याग जैसे मूल्यों का सृजन किया था। क्या कम्प्यूटरों का ढेर, रोबोट्स, इलैक्ट्रॉनिक्स चिप्स इत्यादि इन मूल्यों को स्थापित कर पायेंगे? या इसके लिए मनुष्य को कुछ और आयामों को भी खंगालना होगा। आज विज्ञान का हव्वा है, किसी भी वस्तु को वैज्ञानिक–अवैज्ञानिक कहने की होड़ सी लगी है और यही ज्ञान का पर्याय माना जाने लगा है। विडंबना यह है कि ज्ञान के नाम पर तकनीकी को मशीनों को 'विज्ञान' कहकर बेचा जा रहा है। यदि यह माना जाए कि विज्ञान मशीनों से आगे भी कुछ है। तब 'विज्ञान' का अर्थ बदलेगा कि विज्ञान प्रकृति की, उसके समस्त आयामों की समझ व उसकी व्याख्या है और तकनीकी जो आज मशीनीकरण का पर्याय है, वह प्रकृति से साधन जुटाने और उनका उपयोग करने का एक तरीका है, कला है, हुनर है। अतः प्रकृति की हमारी जैसी समझ होगी, हमारा साधन जुटाने का तरीका उस समझ पर निर्भर करेगा। तब विज्ञान का स्वरूप बदलेगा क्योंकि वह विशुद्ध रूप से ज्ञान का क्षेत्र है। तब प्रकृति के समस्त आयामों की समझ के साथ, मानव–मानव के बीच संबंधों की व्याख्या, लक्ष्य व उसकी व्याख्या, अस्मिता, गरिमा, समग्र सृष्टि के होने का अर्थ, समाज व शेष प्रकृति के अन्तर्संबंधों की व्याख्या का नाम विज्ञान होगा। यह विज्ञान प्रकृति से साधन बटोरने की मशीनी चेतना से कहीं ज्यादा व्यापक होगा। मनुष्य की ब्रह्माण्डीय जिज्ञासाओं का समाधान इस विज्ञान का अंग होगा ताकि व्यक्ति अपनी समग्र जिज्ञासाओं की तृप्ति का पवित्रतम

एहसास कर सके। तब विज्ञान, साइंस के नाम पर कोई डरावनी चीज न होकर जीवन व जगत को जानने का बेहतर माध्यम होगा। ऐसे विज्ञान में सारा ज्ञान समाया होगा। युद्ध व व्यापार के लिए मशीनों का निर्माण करना शायद फिर प्राथमिकता में न रह जाये और धरती ग्रह का नाश कर अन्य ग्रहों पर जीवन तलाशने की योजना वाले लोग महान वैज्ञानिकों के नाम पर प्रतिष्ठित न हो पाए। विज्ञान के नाम पर मिथ्या प्रचार को रोकना वास्तविक विज्ञान की तरफ पहला कदम होगा। ऐसा विज्ञान सर्वजनगामी होगा, अपने सिद्धान्तों, रहस्यों व मशीनी दुनिया में उलझा नहीं।

2500 साल पहले इस देश में 'बुद्ध' नाम का वैज्ञानिक हुआ था जिसने मनुष्य के एक नये विज्ञान का प्रतिपादन किया था। भविष्य के समाज को ऐसे विज्ञान व वैज्ञानिकों की आज फिर से प्रतीक्षा है जो जीवन व जगत के समग्र आयामों का उद्‌घाटन कर सकें। ज्ञान का सवाल भी यहां से मुखर होगा कि किसे कहेंगे ज्ञान व कौन है ज्ञानी विद्वान? समझदार, सभ्य, शिक्षित? क्या होगी इसकी कसौटी? यदि ये लक्ष्य सामाजिक संगठनों, राजनीतिक संस्थानों, शिक्षण संस्थाओं के पास नहीं है तो वे भी कलाओं व हुनरों को प्रतिष्ठित करने, व्यक्ति की अस्मिता से जोड़ने की कवायद में शामिल होंगे। विडंबना यह है कि हमने किन्हीं कलाओं के आधार पर लोगों को इतना पूजा है, प्रतिष्ठित किया है कि लोगों के गुण–दोष ही दिखना बंद हो गये हैं जैसे कि सम्मोहन कर दिया गया हो। आज पढ़ाई–लिखाई का धन्धा खासकर अंग्रेजी पढ़ाई–लिखाई वाले धन्धे जितना प्रतिष्ठित किये गये हैं उसका उतना मूल्य है नहीं। उनको हम उनकी वास्तविक जगह पर देख पायें यह आवश्यक है।

गांधीजी ने कहा कि "जो चीज अपनी जगह पर नहीं है, वो कूड़ा है।" इस व्यवस्था में भी बहुत सारी चीजें ऐसी ईजाद हो गयी हैं जिनको हम उनकी जगह पर नहीं रख पाये हैं। भूलवश ज्यादा आंक गये हैं। इसलिए क्या हम यह कहने का साहस करेंगे कि यह कूड़ा है या उनको उनका सही स्थान मुहैया करायेंगे। सामाजिक कर्म की गरिमा का एक रास्ता गांधी ने हमें दिखाया है जो स्वशुद्धि के साथ–साथ समाज शुद्धि तक जाता है। ऐसा नहीं कि पहले हम प्रभु होंगे, पैगम्बर होंगे; फिर उपदेश करेंगे। यहां कसौटी अपने को अलग घोषित करना नहीं हैं। उसी समाज के साथ मिलकर अपनी उपलब्धियों, सामूहिक उपलब्धियों को हासिल करने के लिए काम करना है। आज इस सबकी उपयोगिता ज्यादा शिद्‌दत के साथ महसूस हो रही है। क्योंकि दुनिया के तमाम सवालों पर चिन्तन का आधार गड़बड़ा रहा है इसलिए चुनौती ज्यादा गहरी है। कुछ सालों पहले हम जिन उपलब्धियों से चकाचौंध होकर कहने लगे थे कि दुनिया में विकास का यही रास्ता है, अब उतनी ऊंची आवाज में नहीं बोलते बल्कि 'कुछ', 'किन्तु', 'परन्तु' के साथ बोलने लगे हैं। गांधीजी ने समाज परिवर्तन के आधारों को बदला था वे प्रचलित चकाचौंध में बह नहीं गये थे इसलिए उनमें आखिरी आदमी के साथ बात करने व घुलमिल सकने की ताकत थी जिससे उन्होंने मनी, मसल व आर्म्स पावर के शिखर पर खड़ी सभ्यता को चुनौती दी व कभी सूर्य अस्त न होने वाले साम्राज्य की नींव हिलाने का काम किया। आम आदमी की ताकत, उसके आत्मविश्वास को जगाया। आज समाज का आत्मविश्वास इस व्यवस्था ने

इतना गिरा दिया है छोटी–छोटी सामान्य चीजों के लिए भी इस व्यवस्था की तरफ ताकना लोगों की आदत बन गयी है। मामूली सिर दर्द हो गया तो डॉक्टर के पास दौड़ लगायेंगे। गांव में पानी की टंकी बननी है तो इंजीनियर आकर बतायेगा। दो भाइयों का जमीन संबंधी छोटा–मोटा झगड़ा हो गया तो अदालत फैसला करेगी। हर चीज में निर्भरता, गुलामी, भिन्नता का आलम, हाथ फैलाने का आलम फैला है। और इस व्यवस्था के आका इसको जन्नत की व्यवस्था कहते थकते नहीं, यही इसकी माया है।

वर्ष 2009 मे 'हिन्द स्वराज' पुस्तिका के 100 साल पूरे होने पर कुछ सर्वोदयी साथियों ने हिमांचल, सराहन क्षेत्र में एक यात्रा की थी, उस यात्रा में शामिल होने का मौका मिला। उसी यात्रा में एक अमेरिकन युवक भी शामिल था। बातों–बातों में मैंने उससे पूछा कि आप तो डेवलप्ड कंट्री के लोग माने जाते हैं, हिन्दुस्तान जैसे देश में आपको किस तरह का अनुभव होता है? वो साथी तपाक से बोले, "मैं तकनीकी का बच्चा हूं, हमारी कंट्री लगती अच्छी है पर दिखावटी है, अंदर सब झूठ है, हमारे यहां युद्ध, भूख, झोपड़ी की समस्या नहीं, पर जीवन से कोई संबंध नहीं। फिर भी दस प्रतिशत लोग सुबह खैराती भोजन की लाइन में खड़े रहते हैं। ज्यादातर लोगों को हमेशा खाते रहने के कारण मोटापे की समस्या है, लोगों का आपस में रिश्ता नहीं। कमाया, धमाया व जीवन बीमा कंपनियों को सौंपा एक असुरक्षा का भाव। मशीनों से संपर्क है, पेरेन्टस से कोई रिलेशन नहीं। टेक्नालॉजी के बिना जीना संभव नहीं, नई पीढ़ी में निराशा है; दुनिया से भी कटाव है, सब खरीदार लोगों की फौज है, उत्पादन से संबंध नहीं है, सब यांत्रिक है। मेरा बस चलता तो सारे कम्प्यूटर्स को आग लगा देता।" ये उद्गार थे उस नवयुवक के। ये कहानी और भी है कि इस समृद्धि की बनावट को बनाये रखने की दुनिया कितनी बड़ी कीमत चुका रही है। ये आज के जमाने के हमारे आकाओं की कहानी है। जो और जिनसे आयातित मान्यतायें हमारी जीवनशैली को तय कर रही हैं।

समाज परिवर्तन के सन्दर्भ में एक और बात जो पिछले कुछ वर्षों के अनुभव से मुझे महसूस हो रही है कि एक सामाजिक–राजनैतिक कार्यकर्ता जो अपनी कुल वैचारिक–नैतिक ऊर्जा को समेटकर सामाजिक–राजनैतिक व्यवस्था में बदलाव का सपना देखता है। उसकी नैतिक–वैचारिक ऊर्जा बनी रहे व लगातार शिक्षण–प्रशिक्षण से प्रखर होती जाय। इसके लिए जरूरी है कि ऐसे कार्यकर्ताओं की आजीविका का बंदोबस्त लोकतांत्रिक सरकारें व समाज मिलकर करें, उनके प्रशिक्षण की जिम्मेवारी भी लें ताकि संकट के समय में भी धैर्य व नैतिक ऊर्जा का स्खलन न हो। ये आज की आवश्यकता है ताकि लोक में समता का विमर्श बना रहे व लोकतंत्र को और अधिक समाजोपयोगी बनाने की कोशिशें ऐसे लोकतांत्रिक कार्यकर्ताओं द्वारा जारी रहें। लोक व तंत्र के बीच बेहतर समन्वय के लिए ऐसे प्रतिबद्ध कार्यकताओं को प्रोत्साहन देना भी लोकतंत्र को सुदृढ़ बनाने की कोशिशों का हिस्सा होगा। समाज के जो तबके आर्थिक रूप से संपन्न हैं वो भी ऐसे कार्यक्रमों को प्रोत्साहित कर सकते हैं ताकि एक लोकतांत्रिक व्यवस्था की भावना आखिरी आदमी तक भी पहुंचे, उसकी भागीदारी तक पहुंचे। वोट देने के साथ ही इसकी

इतिश्री न हो जाये। समाज व्यवस्था के हर आयाम में बेहतर समाजकर्मी तैयार हों जो संवाद व सृजन के काम की भूमिका निभायें, माहौल निर्मित करें। खुद अगुवा की भूमिका में न आकर लोगों को प्रेरित करें। इसके लिए किन्हीं को तो पहल करनी होगी, खुद को तैयार करना होगा। यह कोई सामान्य बात नहीं है, यह चौराहे पर खड़े होकर प्यार करने जैसी बात है। ऐसे लोगों की तैयारी भी लोाकतांत्रिक समाज बनाने हेतु एक पहल का हिस्सा होगी। तब सामाजिक कार्यकर्ता की संस्था, एनजीओ, दाता एजेन्सी व राजनैतिक दल के एजेण्डे का वाहक भर न होकर एक गवेषणात्मक स्वतंत्र बुद्धि का लोकतांत्रिक कार्यकर्ता होगा। जो समाज को समतामूलक बनाने व लोक स्वराज का वाहक होगा। ऐसा कार्यकर्ता समाज पर बोझ नहीं बल्कि उसका जरूरी अंग होगा। जिससे कुल संस्थानों व राजनीतिक दलों का भी चरित्र बदलेगा व सामाजिक–राजनीतिक बदलावों की प्रक्रियायें ज्यादा लोकतांत्रिक ढंग से चल सकेंगी। आज देश–दुनिया में तमाम समूह कार्यकर्ता खड़े हो रहे हैं जो चुपचाप अपने जीवन की खोज करते हुए बदलाव के कामों में लगे हैं, ऐसे समूहों–कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहन व अवसर देने की आवश्यकता है ताकि एक नई दुनिया का सपना साकार हो सके।

वर्ष 2004 में समाज बदलाव की एक प्रक्रिया, जिसको 'विश्व सामाजिक मंच' कहा गया है, से जुड़ना हुआ। मुंबई में आयोजित इस कार्यक्रम में दुनिया भर के परिवर्तनकारी समूहों, उनसे जुड़े समाज के विभिन्न तबकों के लाखों लोगों ने भागीदारी की और अपने–अपने तरीके से अपनी परिवर्तन की इच्छाओं–आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति की। इस मंच का यह नारा ही था कि, 'एक दूसरी दुनिया संभव है।' कुल मिलाकर यह समाज के अलग–अलग तबकों के बदलाव के प्रति इच्छा–आकांक्षा की साझा अभिव्यक्ति थी। जिसको परिवर्तनवादियों का मेला, जमावड़ा या चौपाल, पंचायत कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसी दौरान मुझे लगा कि इन तमाम विस्फोटक व बिखरी आवाजों का समन्वय कर भविष्य के लिए एक नया आयाम खोल सकता है। इसी दौरान समाजवादी पृष्ठभूमि के अनुभवी लोगों द्वारा संचालित प्रक्रिया (पारिस्थितिकीय लोकतंत्र पर दक्षिण एशियाई संवाद) से भी जुड़ना हुआ। जिसकी प्रक्रिया में जुड़ने व उसके अगुवा लोगों के अनुभवों से यह समझना हुआ कि बदलाव की प्रक्रियायें तमाम तबकों की साझा भागीदारी से निकलेंगी। अब व्यक्तियों के करिश्मों का दौर चला गया है क्योंकि हर समाज वर्ग में एक जागरूक तबका खड़ा हो रहा है जो उस समूह की आवाज को मुखर कर रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि इन समूहों की कुल आवाजें एक साझा पहल में कैसे तब्दील हों। अपने–अपने एजेण्डे के साथ अपनी बात को मुखर कर रहे तबकों की चेतना अपने घेरे से बाहर भी जो अन्य तबकों की आवाजें, पहले हैं उनके साथ एक लोकतांत्रिक समाज की रचना के लिए कैसे संवाद के माध्यम से साझा पहलों में तब्दील हो सकती है, यह कुल मिलाकर काम है। अन्यथा हवा में बदलाव के सपने देखना, चर्चा करना, किताबी क्रान्तियों में उलझे रहने का जो कुल परिणाम है उसको हम देख ही रहे हैं। उससे न समाज की लोकतांत्रिक बहसें आगे बढ़ पाती हैं न कोई साझा पहल। क्योंकि वहां क्रान्तिकारी के नाम पर हम अपने को स्वयंभू अगुवा की भूमिका में मानते हैं और सिद्धान्तों को बघारने में, तोड़–मरोड़कर व्यक्त

करके अपने को क्रान्ति का, परिवर्तन का पुरोधा माने रहते हैं। जिसका कई बार समाज की वास्तविकताओं–सरोकारों से कोई सम्बंध नहीं होता। आज तो ऐसे जिन्दा दर्शन की आवश्यकता है जो वर्तमान के सवालों को हल कर सके वो बनी–बनाई लीक पर नहीं हो सकता। पिछली घटनायें प्रेरणायें हो सकती हैं पर समाधान तो साझा प्रक्रियाओं से निकलेगा तभी उसकी परंपरा बन पायेगी। इसलिए व्यक्ति की पहल की कोई परंपरा नहीं बन पाती। ऐसी चीजें आत्मसंतुष्टि, आत्ममुग्धता में ले जाती हैं; ये रोग इस देश में तो वर्षों से है। इस आत्ममुग्धता से आस–पास की दुनिया बौनी नजर आती है। आत्ममुग्धता का भी एक सुख है पर व्यापक समाज का सुख इससे नहीं निकलता।

चुपचाप बिना किसी से शिकायत के अपने रूचिकर काम करना; संगीत, कृषि इत्यादि। अपना अकेलापन दूर करना भी एक तरीका है अपने को इस व्यवस्था में जिन्दा बनाये रखने के लिए। पर इसमें नया समाज गढ़ने की, बहुसंख्यक समाज को मानवीय बनाने की चुनौती नहीं है। सार्वजनिक जीवन में गांधी ने इस चुनौती को स्वीकार किया इसलिए अध्यात्म, धर्म के  नैतिक सिद्धान्तों का उपयोग स्वयं से होकर सार्वजनिक जीवन में किया। व्यापक समाज में भी नैतिकता आये इस तरफ उनका ध्यान गया। कुछ बुनियादी मूल्यों को छोड़कर समाज को कोई रेडीमेड समाधान नहीं दिया इसलिए ये कहा कि मैंने तो कुछ नहीं किया, जो आत्मविश्वास लोगों ने खोया था, उनमें था ही; उसकी तरफ ध्यान भर दिलाया। आज परिस्थितियां पहले के मुकाबले ज्यादा जटिल हैं दुनिया के नये आका धोखे से दुनिया को अपने नियंत्रण में लेने में जुटे हुए हैं। आज जो बातें वैज्ञानिकता के नाम पर सच घोषित की जाती हैं वो कल गलत साबित हो रही हैं और एक पूरी पीढ़ी गलत जानकारी के चलते रहने को बाध्य है। ये पाप व धोखा सूचना क्रान्ति के नाम पर है इसलिए चुनौतियां दोहरी हैं। मेहनतकश किसानों के आधार खेती पर एमएनसीएस का हमला व शोषण हो रहा है वे दीन–हीन बनने व हाथ फैलाने को मजबूर हैं। लोगों का पेट पालने वाला आदमी खुद भूखा है। पहले राजनैतिक गुलामी थी अब आर्थिक सत्ता उसकी जगह ले चुकी है। यही सत्ता तमाम व्यवस्थाओं का संचालन कर रही है, जिससे समाज में संपत्ति, सत्ता पाने की गलाकाट स्पर्धा बढ़ी है। हवा,पानी, प्रकाश, आकाश पर कब्जे की होड़ व अधिक से अधिक इक्ट्ठा करने की होड़ से प्राकृतिक लोकतंत्र खतरे में है। गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, प्राकृतिक असंतुलन व मानव असंतुलन इसका परिणाम है धरती के साथ–साथ आदमी का दिमाग भी गरम हो रहा है। व्यक्ति, परिवार, गांव, समाज, राष्ट्र, संस्थान व कल्याणकारी योजनायें पैसे के लिए विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व धनी देशों पर निर्भर हो रहे हैं। ऐसे में ग्राम स्वराज–स्वावलंबन का काम जितना कठिन लगता है उतना ही जरूरी भी हो गया है ताकि धरती पर मानव सहित प्राणिमात्र का अस्तित्व बना रहे।

प्रचलन में जब विकल्पों की बात होती है तो कुछ लोग बोलते हैं कि क्या आधुनिक उद्योग व सभ्यता को त्यागकर हमें जंगलों में वनवासियों, पशुओं की तरह रहना चाहिए। या कोई नियतिवादी होगा तो कहेगा कि घबराओ मत, जब पापियों का पाप का घड़ा

फूटेगा तो कोई अवतार हमें तार लेगा। विज्ञान वाला कहेगा कि हम आसमान में नये ग्रह पर जीवन खोज लेंगे पर किसी भी विधि से आज किसी नये ग्रह वाली बात सिद्ध नहीं की जा सकती, संभव नहीं है तो क्यों न इस पृथ्वी पर संभावना तलाशी जाय। साम्यवाद के अनुसार पूंजीवाद के बाद समाजवाद आयेगा तो हर क्षेत्र में समता व्याप्त हो जायेगी। ये प्रचलित हल भविष्य के प्रति बेहतर आशा की, हमारी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हैं लेकिन जिनको व्यक्ति व समाज के बेहतर भविष्य में निष्ठा है, उनके लिए लोकतंत्र एक आशा है। निजीकरण से मुक्त होकर सार्वजनीकरण, साहचर्यीकरण, समाजीकरण और अंततः स्वराज का माध्यम है। जनभागीदारी वाला लोकतंत्र का एक ढांचा हमारे पास है उसे निजीकरण से बचाना हमारी जिम्मेदारी है। यह गरीब ही नहीं, मनुष्य जाति के साथ ही पारिस्थितिकीय तंत्र की गारंटी है। लोकतांत्रिक प्रक्रिया में इन मान्यताओं का त्याग है कि, प्रकृति एक व्यापार की वस्तु है और समाज केवल मनुष्यों का है। लोकतांत्रिक व्यवस्था समग्र समाज में इस बहस का अवसर देती है कि जन्म–मृत्यु के बंधन से मुक्त होने से पहले ही जन्म व मृत्यु के बीच में एक जीवन यात्रा है और कई बंधन हैं जिनको खोलना होगा। तब मोक्ष का सपना व अनन्त काल तक जन्नत का सपना भी खुली आंखों से देखा जा सकेगा व सर्वसुलभ होगा। शून्य हो जाने, आध्यात्म की पराकाष्ठा, स्वर्ग का राज्य प्राप्त करना, ब्रह्म विलीन हो जाना व अमरत्व की सीढ़ी लोक विशेष में वास करने की कोई चीज अस्तित्व में होगी तो वह आखिरी आदमी को भी नजर आयेगी। उसके लिए वहां कोहरा नहीं लगा होगा अन्यथा कई भ्रमों से मुक्ति का नाम भी मोक्ष हो सकता है। आखिरकार यही जीवन की एक अवस्था, मनोदशा का ही नाम तो है। तमाम धर्म व अर्थ संबंधी व्यवस्थायें आखिरी आदमी को भी नैतिक होने का अवसर प्रदान करें व अर्थ की व्यवस्था उसको रोजी–रोटी की सुलभ व्यवस्था प्रदान करवाये। यह एक लोकतांत्रिक समाज की कसौटी होगी अन्यथा धर्म व अर्थ उसके किस काम का। एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था खड़ी हो जो सही में हर एक को समृद्ध कर पाये। इसके लिए आवश्यक है कि प्राकृतिक वैभव पर मिल्कियत के सवाल पर, संपत्ति की मालिकी के सवाल पर मुखर होना होगा। एक आदमी को कितने संसाधन चाहिए? एक स्वस्थ समाज में संपत्ति पर किसकी मालिकी कितनी होगी? समाज में संसाधनों के उत्पादन व बंटवारे की व्यवस्था क्या है? प्रकृति में उपलब्ध संसाधनों की स्थिति क्या है? तब शायद कुल संपत्ति, उसकी मिल्कियत व प्रकृति से मानव समाज के रिश्ते का नया दर्शन भी हम गढ़ पायें। ऐसे समाज में स्वैच्छिक गरीबी भी एक शान होगी, अभाव नहीं। क्या लोकतांत्रिक सरकारें, परिवर्तनकारी समूह ऐसी स्वस्थ प्रक्रियायें चलाने में अगुवा की भूमिका निभायेंगे? यदि हां तो 'स्वराज हमारी नियति है'।

# cgr cMk g xkh/kh dk ^>kM^

आजकल स्थापित राजनेताओं के, बुद्धिजीवियों के भाषणों में यह स्वर सुनाई देने लगा है कि, "समय के साथ खुद को ढालो, दुनिया तेजी से बदल रही है। जो वक्त के साथ नहीं चलेगा वह पीछे रह जायेगा", इत्यादि। इस संघर्ष में रहना हमारी सामूहिक नियति बन रही है। जहां सफलता का मतलब है 'पैसा' व विकास का मतलब है 'अधिक से अधिक वस्तुओं का मशीनों की सहायता से संग्रह और उन वस्तुओं से सुखी व भाान्त होने की चाह' इसके लिए संघर्ष अनिवार्य है क्योंकि ऐसा 'विकास' सबको चाहिए। यह इक्कीसवीं सदी में रहने की बात करने वाले लोगों का 'सपना' है, 'लक्ष्य' है। हिन्दुस्तान का वर्तमान भाासक वर्ग भी इस देश की गरीबी से दुःखी है इसलिए उसे भी मुक्ति का एकमात्र राज़मार्ग यही दिखता है कि किसी भी तरह से यह 'विकास' हमारे यहां भी हो और हम अपने देश को गरीबों से मुक्त कर सकें यह शुभेच्छा है। क्योंकि गरीबी मिटाने की ऐसी आतुरता व तीव्रता पहले भाायद नहीं देखी गयी, जैसी आज के भाासक वर्ग में दिखती है। हिन्दुस्तान गरीबी, भूख व भयमुक्त देश बने व विकास के राजमार्ग पर बढ़े, ये शुभेच्छा प्रशंसनीय है। ऐसे समय में जब समाज में भय व भूख का वातावरण हो तब इस अखिल ब्रह्मांड के अनन्त ग्रहों में से एक, 'मंगल' पर देशी भाोधकर्ताओं द्वारा यान भेजना एक सुखद क्षण है। हालांकि इसका भय व भूख मिटाने के संदर्भ से सीधा रिश्ता क्या है, ये कहा नहीं जा सकता।

प्रचार व बाजार की हवा है। जहां उत्पादित वस्तु, मनमोहक 'विज्ञापनों' द्वारा प्रचार किए बिना नहीं बेची जा सकती इसलिए वस्तु के साथ प्रचार आवश्यक है। दुनिया का प्रचार तंत्र इस घटना को महान उपलब्धि बता रहा है। यह एक वर्ग विशेष की इच्छा और तृप्ति का साधन भी जरूर बना है। बाजार की यही माया है कि सपने बेचने में समता, उपलब्धता में असमानता, सबको नहीं मिल जाती। सहज उपलब्ध हो तो तंत्र की आवश्यकता ही क्या रह जायेगी। वर्तमान सरकार ने प्रचार तंत्र का सहारा लेकर कहें या भरपूर उपयोग–इस्तेमाल करके, लोगों को एक सपना दिखाया है, 'विकास का सपना', 'तरक्की का सपना', 'गरीबी मुक्ति', 'गंदगी मुक्ति' का सपना इत्यादि। प्रचार इतना जबरदस्त है कि वो कुछ समय के लिए किसी गरीब की भूख को भुला दे। हिन्दुस्तान को 'स्वर्ग' बनाने की कोशिश हो रही है, पर न ही स्वर्ग की तस्वीर स्पष्ट है और न स्वर्ग बनाने के तरीकों की; न साध्य स्पष्ट है न साधनः क्योंकि भाायद सपना भी आयातित है। ये इस सपने की रात्रि गुजर जाने के बाद की हकीकत है कि सपना कहीं आँखों से ओझल न हो

जाय क्योंकि यह सपना हमारी किसी और की तरह बनने की कामना से उपजा है। सपना नकल पर टिका हो तो उसकी भयावहता और बढ़ जाती है। ऐसा हमने बुजुर्गों से सुना है।

धरती पर सुखी–समृद्ध होने की कामना का यह सपना नया नहीं है। बस इच्छाओं में कुछ बदलाव जरूर हो गया है। कुछ सपने विगत के लोगों ने भी देखे थे, यथा; "सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मां काश्चिद दुःखभागभवेत्।" या वसुधैव कुटुम्बकम् या मनुष्य के दृश्यमान संसार से, पारलौकिक संसार में ब्रह्मांड की सकल ऊर्जा को महसूस करना इत्यादि। सब सुखी होवें, निरोगी होवें, भातृभाव का संबंध बने व किसी को कोई दुःख न हो; इससे ज्यादा शुभेच्छा क्या हो सकती है? इस सपने की खासियत यह है कि यह सबके लिए देखा गया सपना है, साझा सपना है। इसके पीछे निश्चित रूप से गहरे भाव व समझ रही होगी। मनुष्य की जीवन की व इस जगत की समझ। जिस आधार पर इस सपने को, साझा सपने व साझा लक्ष्य के रूप में समाज के समक्ष रखा गया। ये हमारी शुभकामनायें हैं। अब इसके विस्तार में जायेंगे तो ये प्रश्न आयेगा कि सुखी होने का, निरोगी होने का व भद्र की तरह देखने का क्या अर्थ है? और ऐसा कैसा संभव हो सकता है, शुरुआत हम इसके नकारात्मक हिस्से से करें। जिसमें कहा गया है कि किसी को कोई दुःख न हो। आज हम ये कहते हैं कि मंहगाई न हो, गरीबी न हो, भुखमरी न हो, आतंक न हो, असुरक्षा न हो इत्यादि। इन सबको सम्मिलित रूप से यह कह सकते हैं कि कोई दुःख न हो। आज देखें तो गरीबी मुक्ति का हमारा जो प्रचलित आशय है, वैसा ही हो जाय तो 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया हो जायेगा क्या? यह सवाल है। गरीब न होने का हमारा आज इतना ही अर्थ है कि व्यक्ति साधन संपन्न हो और कितना साधन हो जाये कि सपन्नता आ जायेगी, यह भी एक सवाल बना हुआ है। साधन–संपन्नता के सवाल को एक बारगी देखें तो पता चलता है कि जो सुविधाओं के ढेर पर बैठे हैं वो सुखिनः निरामया, हो गये हैं क्या? बाबजूद इसके हर एक के पास जीवन जीने की आवश्यक सुविधा हो, यह मानवीय व्यवस्था का प्रश्न है। इसके उपरान्त सवाल ये मांग करता है कि गरीबी केवल आर्थिक नहीं, बल्कि आर्थिक–सांस्कृतिक प्रश्न है। क्योंकि मनुष्य केवल आर्थिक नहीं बल्कि सामाजिक– सांस्कृतिक इकाई है। 'सर्वे भवन्तु सुखिन; के पीछे यही सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टि है, जिसे देखना आज हमारी अनिवार्यता व विवशता दोनों हैं। यह भी तब, जब हम चाँद–मंगल पर पहुंचने का दंभ भर रहे हों और जिस धरती पर रह रहे हैं उसे लगातार नरक में तब्दील करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे हैं। जिस धरती पर स्थित हैं उसी को बर्बाद करने पर तुले हुए हैं। जब से 'विकास' का मतलब हर आदमी को बाजार से जोड़ना हुआ है तब से मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्राकृतिक स्थितियों से दूर हुआ है। परस्पर एक दूसरे का भाोषण व ठगी बढ़ी है। इस लाभ–हानि के बीच में गरीबी–अमीरी परिभाषित हो रही है। इस तरह की व्यवस्था से जुड़ने के लिए आज की तथाकथित महंगी शिक्षा अनिवार्य हो गयी है ताकि इस व्यवस्था में खुद को बनाये रखने के दावपेंच सीख सकें।

'मेक इन इंडिया' जैसे लोक लुभावने नारे (विज्ञापन) वैश्विक बाजार की खुलेआम

होड़ के इसी शगूफे से बाहर निकलते हैं। उसके पीछे का दर्शन व नियति पूर्वनिर्धारित है, विदेशी निवेश, खुला बाजार, रोजगार बढ़ाना, गरीबों को मध्य वर्ग में भाामिल करना, गावों को बाजार से जोड़ना इत्यादि शगूफों से हमको लगता है कि कुछ नया हो रहा है; पर हकीकत यह है कि यह वैश्विक आकाओं की मर्जी का क्रियान्वयन हो रहा है और वे चाहते हैं कि दुनिया के बड़े बाजार उनके लिए हमेशा खुले रहें ताकि अधिक से अधिक मुनाफा कमाया जा सके। सर्वे भवन्तु सुखिनः के सपने के जमाने में रोजगार के लिए आज की तरह अत्याधिक यांत्रिकता पर आधार खुले बाजार व कारखाने न थे, पारिवारिक धन्धों के आधार पर, प्रकृति आश्रित परस्परावलंबन आधारित उद्योगों की स्वायत्त व्यवस्था मौजूद थी। नया कारखाना, नया रोजगार गांव व प्रकृति की स्वायत्त परिधि के बाहर हैं। व्यापार की राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय मजबूरियां इस वर्तमान तन्त्र से पनपी हैं। नई कारीगरी के कारखाने खुले। इन नये कारखानों में काम करने के लिए लोगों को तैयार करने हेतु तमाम तरह के बड़े कॉलेज खुले। ऐसे नये कामों को सीखने का नाम 'ज्ञान' दिया गया है। 'ज्ञान' के इस पेचीदा सवाल पर बाद में आयेंगे। इसका कुल परिणाम यह हुआ कि पुराने धन्धों से छुटकारा मिल गया है। इस में हमारी 'ज्ञान' बाँटने वाली अर्थात् नयी कारीगरी सिखाने वाली तथाकथित आधुनिक शिक्षा का बड़ा योगदान है। नये धन्धों में यूरोपीय तरह के पहनावे, खान–पान, व्यवहार के तरीकों की नकल आधारित गतिविधियों का नाम 'आधुनिकीकरण' दिया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आयेगा। इन सारे नये धन्धों के आने से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की कब्जेदारी बढ़ी है। हमको लगता है कि इसमें रोजगार की अपार संभावनायें है पर इन धन्धों का प्रकृति व मानव विरोधी पक्ष बाहर की चकाचौंध में दिखता नहीं है। आज कोई इन कामों को न करना चाहे तो उसका जीना दूभर हो जायेगा क्योंकि ये कवायद, प्रकृति पर कब्जेदारी के साथ ही जीविका के वैकल्पिक स्रोतों का भी नाश कर रही है। समाज की भौगोलिक–सांस्कृतिक विरासत का ह्रास उसकी एक और नियति है। रोजगार कितना बढ़ा, ये हमारे सामने स्पष्ट है।

विकसित व आधुनिक होने के इस आयातित सपने (सोच–विचार) ने हमको बहुत सारी चीजों से मुक्त भी कराया है। या ये कहें तो ज्यादती नहीं होगी कि आजाद होने का भ्रम दिलाया है। इस अर्थ में 20 वीं सदी इतिहास की एक अभूतपूर्व सदी के रूप में देखी जा सकती है। जब राजनीति से लेकर समाज के तमाम संबंधों, देश–काल की सांस्कृतिक विविधताओं, धार्मिक मान्यताओं, प्राकृतिक–भौगोलिक स्थितियों व नैतिक विचारों–क्रियाकलापों में एक बड़ी उथल–पुथल का दौर मानव समाज में गुजरा है। जिसने समाज को बदलाव के एक अन्य सिरे पर लाकर खड़ा कर दिया है और आज की 21 वीं सदीं की पृष्ठभूमि को रचा है। यह श्रेय 20 वीं सदी को जाता है जब अफ्रीका, एशिया, आस्ट्रेलिया व अमेरिकी महाद्वीपों के प्रायः सब देश यूरोप की राजनीतिक गुलामी से मुक्त हुए। इसी क्रम में 15 अगस्त 1947 को इण्डिया, इग्लैण्ड की राजनीतिक गुलामी से मुक्त हुआ। यूरोपीय देशों के आपसी दो महायुद्धों की गवाह भी यह सदी बनी। आज आर्थिक साम्राज्यवाद के जरिये किसी न किसी बहाने से कब्जे की होड़ बनी हुई है। राजनैतिक गुलामी से मुक्ति के बाद मनुष्य के जीने की आजादी का स्वरूप इससे अभी निकल नहीं

पाया है क्योंकि व्यवस्था में परिवर्तन नहीं हुआ जिससे समाज अपने जीने की आजादी के साथ रह पाता, समाज व्यवस्था के तौर पर देखें तो पहले लोगों को दास–गुलाम बनाकर, बोली लगाकर बाजारों में बेचा जाता था अब निश्चित तौर पर अमेरिका, यूरोप में लोगों की बिक्री के लिए बाजार नहीं लगते। लोकतांत्रिक कही जाने वाली सरकारों में ऐसी गुलामी को संवैधानिक रूप से अवैध घोषित किया गया है। देश–दुनिया की सांस्कृतिक सज्जा पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि विगत काल से ही अलग–अलग भौगोलिक–सांस्कृतिक बनावट में रहने वाले लोगों ने अपने रीति–रिवाज, उत्सव, खान–पान, भाषा, पहनावा, विवाह आदि क्रियाकलापों का अपने–अपने स्थान पर विकास किया, जिसे हम 'संस्कृति' कहते हैं। इस सब पर सन्तों–सन्यासियों, गुरूओं व राजपरंपराओं का गहरा असर रहा। अब दुनिया के रंग मंच पर तथाकथित अंतर्राष्ट्रीय बाजार–व्यापार का यही गठबंधन अपने प्रचार माध्यमों से खान–पान, डिजाइनिंग, फैशन व जीने के तरीके निकालकर फैलता है। यही आज की संस्कृति है, कल्चर है, सभ्यता है। इसके लिए दुनिया के व्यापक समाजों के साथ–साथ प्रकृति के तमाम अंग–उपांगों को भारी कीमत चुकानी पड़ रही है। इसी को हम पश्चिमी कहकर, कोसते हुए थकते नहीं है। बौद्धिक व मानसिक विस्फोट की भी यह सदी साक्षी रही है। विश्व के मानस पटल पर मानसिक व बौद्धिक स्थितियां पुराने ग्रन्थों, संतवाणियों, वचनों, वाक्यों, उपदेशों के अनुकरण–अनुसरण का युग भी समाप्ति की दहलीज की तरफ बढ़ा है। विचारों की अभिव्यक्ति या कहें कि हर समूह की अपनी अभिव्यक्तियों का नया युग यहां से भाुरू हुआ है, साथ ही सबको अपने मनमाने ढंग से सोचने, बोलने, करने के अधिकार के युग की तरफ समाज ने प्रवेश किया है।

सामाजिक संबंधों के भी एक नये दौर की शुरुआत यहां दिखाई देती है। सामाजिक संबंधो की पारंपरिक परिभाषाओं पर प्रश्न चिन्ह लगने भाुरू हुए हैं। बच्चे, माता–पिता, गुरू संबंध, पति–पत्नी संबंध, सेवक–स्वामी, राजा–प्रजा के संबंधों पर एक नई बहस की शुरुआत हुई है। इन तमाम निर्भरताओं के प्रति नये सचेत तबकों में विरोध के स्वर उभर रहे हैं। बाल, अधिकार, महिला अधिकार–सम्मान के सवाल उठ रहे हैं। संबंधों के स्थायित्व की इस व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह लगने लगा है। पति–पत्नी आज़ादी के नाम पर एक–दूसरे को छोड़ते हैं फिर नये रिश्ते ढूंढ़ते हैं। पश्चिमी देशों में, जिनको हम विकसित सभ्य व अपना आदर्श मानते हैं, वहां इनकी गति ज्यादा तेज है। मनुष्य अकेले होने के अहसास के साथ बाजार की क्रूर भीड़ में निरीह खड़ा है। बाजार–व्यापक का तंत्र मनुष्य के सामाजिक–सांस्कृतिक संबंधों को एक खास दिशा में संचालित कर रहा है। साथ ही प्राचीन काल से चली आ रही सृष्टि की उत्पत्ति, जन्म–मृत्यु, ईश्वर व सत्य संबंधी मान्यताओं व उन पर आधारित आचरण, प्रार्थना इत्यादि के नियम इन आधुनिक कहलाने वाले लोगों को रास नहीं आ रहे हैं। प्रचार तंत्र का एक हिस्सा इसको चमत्कारिक सत्य के रूप में दिखा रहा है तो दूसरा हिस्सा अंधविश्वास घोषित कर रहा है। प्रकृति के वैभव के अंधाधुंध दोहन की भाुरूआत के लिए भी 20वीं सदी को याद किया जायेगा। हालांकि इसकी भाुरूआत कुछ–कुछ 19 वीं सदी में ही हो गयी थी। मानव–व प्रकृति के भूगोल के बड़े हिस्से में कायापलट की गवाह 20वीं सदी रही है। यहां यह गौरतलब है कि पहले के रोजगार–

धन्धे खेती–पशुपालन, इत्यादि प्रकृति की स्थितियों पर आधारित व निर्भर थे। आज के विकास की मांग है कि ज्यादा से ज्यादा मात्रा में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर मुनाफा हासिल किया जाय। इसलिए बड़ी मात्रा में जंगलों का कटान, खनिज पदार्थों का दोहन, लकड़ी, कपास को बड़ी मात्रा में दोहन कर बाहर पहुंचाया गया। परिणाम स्वरूप नदियों की सूखन, जैव विविधता का खत्म होना व मौसम परिवर्तन जैसी विकट परिस्थितियों के सम्मुख हम खड़े हैं। भोष संसाधन कब समाप्त हो जायेंगे, यही गति रही तो कहा नहीं जा सकता। क्योंकि प्रकृति में चीजों को बनने की एक निश्चित गति–व्यवस्था है। हमारी लेने की गति कहीं ज्यादा तेज है। हम समय के साथ चलना चाहते हैं, समय बहुत तेजी से दौड़ रहा है लेकिन यह भूल रहे हैं कि प्रकृति में समय की अपनी परिभाषा है जो हमारे वक्त–समय–घड़ी–वर्ष की परिभाषा से मेल नहीं खाती इसलिए मंगल पर जाने की खुशी मनाना इस अर्थ में वाकई मंगलमय बात है क्योंकि भविष्य में धरती के अतिरिक्त विकल्प के रूप में हमें इसकी आवश्यकता पड़ेगी। बशर्ते इस भूख से मंगल–अमंगल, कहीं भी गया व्यक्ति पूरे ब्रहमांड को नरकगामी बनाने में कोई असर नहीं छोडेगा विज्ञान के नाम पर, यांत्रिक पर आधारित यह नया ज्ञान जहां–जहां गया है वहां इसने कई तरह की भावनाओं से लोगों को मुक्त कराया है। पुरानी भावनाओं में चन्द्रमा को जो भी स्थान मिला हो पर नये ज्ञान ने उसको मिट्‌टी घोषित किया है। दैवीय मान्यताओं से ओत–प्रोत मां कही जाने वाली नदियों को प्रदूषण के माध्यम से समाप्ति के कगार पर पहुंचाना, तारों का आग का गोला, ग्रहण इत्यादि घटनाओं को प्राकृतिक घटना घोषित किया है। 20वीं सदी से 21वीं सदी में हमने इन तमाम प्रक्रियाओं–विचारों से गुजरकर प्रवेश किया है।

नई मान्यतायें ने जहां पुरानी मान्यताओं के क्षेत्र में हस्तेक्षप किया है, वहीं पुरानी आस्थाओं की जगह नई आस्थायें व विश्वास समाज को देने में असफल रहा है जिसके आधार पर एक औसत बुद्धि आदमी अपनी जिज्ञासाओं का निरूपण करके जी सके। क्योंकि 'ज्ञान' को पूरा होना होता है। नये ज्ञान की अपूर्णता ने व्यक्ति को एक और दोराहे पर खड़ा किया है। 'अधजल गगरी छलकत जाय' कहावत यहां सिद्ध होती है। 'नया ज्ञान' छलक रहा है, जगह–जगह! हमारा घड़ा खाली होता जा रहा है और हम 'ज्ञान' के शाश्वत स्रोत से दूर होते जा रहे हैं। ऐसे समय में भूगोल, इतिहास–संस्कृति, प्राकृतिक वैभव सबका भविष्य मनुष्य की ही बनाई गयी दुनिया के तले कराह रहा है। तो ये सोचने की आवश्यकता जान पड़ती है कि इसका मूल कारण क्या है? क्या है हमारी दृष्टि? हमको अपनी दृष्टि क्या है यह कहने में भी भय क्यों लगता है? अपनी व्यवस्थाओं के प्रति इतनी आत्मग्लानि क्यों? दूसरों की श्रेष्ठता का राग अलापने में क्यों हैं हम इतने निपुण? इसकी कुछ बुनियादी जड़ो की तरफ इशारा करना अब जरूरी हो गया है। ताकि कुछ धुंधलका ही सही यथार्थ हमें दिखाई देने लगे। अपनी अस्मिताओं को नये ज्ञान की रोशनी में देखने का प्रयास करना होगा।

हमारी अस्मिताओं का खोखलापन कुछ घटनाओं से समझा जा सकता है। अभी कुछ दिनों पहले यह खबर बड़े हो–हल्ले के साथ प्रसारित की गयी कि संयुक्त राष्ट्र संघ में

हमारे प्रधानमंत्री जी 'हिन्दी' में भाषण देंगे। यह ऐसे प्रसारित किया गया जैसे हिन्दी कोई निरीह प्राणी हो और प्रधानमंत्री जी उसमें बोलकर, उस निरीह प्राणी पर उपकार करेंगे। क्या ये हमारे देश की सामूहिक अस्मिता है? इस देश के संविधान निर्माताओं ने हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' का दर्जा दिया है। राष्ट्रभाषा के साथ राष्ट्र की पहचान जुड़ती है–गौरव जुड़ता है। चीन के राष्ट्रपति भारत आकर हिन्दी में बोलते तो ये नई बात होती। चीन के राष्ट्रपति भारत आकर अपनी राष्ट्रभाषा 'चाइनीज' में बोलते हैं तो यह उनके राष्ट्र के सम्मान की बात कही जायेगी। पर ये क्या खबर बनकर हो–हल्ला मनवाने की बात होती कि चीन के राष्ट्रपति ने चाइनीज में बोला। ये आत्मसम्मान को ठेस पहुंचाने बाली बात मानी जायेगी। इसलिए जब लोकसभा अध्यक्षा लोकसभा में कहती हैं कि हमें 'हिन्दी पखवाड़ा' नहीं बल्कि 'अंग्रेजी पखवाड़ा' मनाना चाहिए तो वे इस राष्ट्रीय अस्मिता के सवाल पर एक कदम आगे सोचती हैं। 'हिन्दी' को किसी पखवाड़े का मोहताज नहीं होना चाहिए; कारण, जो भाषा हमारी देश की राष्ट्रीय अस्मिता को दर्शाती है, उसका प्रतीक है, राष्ट्रभाषा का संवैधानिक दर्जा लिये है और देश की बहुसंख्य जनता द्वारा व्यवहार में लायी जाती है, उसको इतने हल्के में लेना हमारी मानसिक–सांस्कृतिक गुलामी को दर्शाता है। मीडिया को ये बोलने में भी भय लगता है कि प्रधानमंत्री अमेरिका जाकर 'राष्ट्रभाषा' बोलेंगे, वे 'राष्ट्रभाषा' की जगह 'हिन्दी' में बोलेंगे, शब्द इस्तेमाल करते हैं। क्योंकि 'राष्ट्रभाषा' बोलने से देश में भाषा के सवाल पर एक नई बहस जन्म लेगी और हम बहस से घबराते हैं। जिस देश में प्रश्नों के जरिये (संवाद से) जीवन–जगत व सृष्टि के रहस्यों पर बहस–संवाद की एक विशाल उपनिषदीय समृद्ध परंपरा रही हो, उस देश की आधुनिक कही जाने वाली पीढ़ियां राष्ट्र के गौरव व अस्मिता के सवालों पर बहस–संवाद से घबराती है। किसी देश के लिए इससे ज्यादा दुर्भाग्य का विषय क्या हो सकता है।

हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है तो उसकी कोई राष्ट्रीय अस्मिता होगी, राष्ट्रभाषा होगी। यदि इस बात पर हम अपने संविधान निर्माताओं से सहमत नहीं हैं तो फिर एक आज़ाद राष्ट्र की राष्ट्रभाषा क्या होनी चाहिए। इसकी बहस चलाने का दुःस्साहस हमें करना होगा, ताकि अपनी भाषिक अस्मिता के सवाल पर देश को बार–बार शर्मिन्दा न होना पड़े, हम राष्ट्रभाषा को राष्ट्रभाषा कह पायें, डंके की चोट पर, आत्मविश्वास के साथ। हमें इस भाषिक संवाद को ऐसी स्थिति तक ले जाने की आवश्यकता है कि हमें ये न कहना पड़े कि प्रधानमंत्री जी 'राष्ट्रभाषा' में संबोधित करेंगे। राष्ट्रभाषा है तो राष्ट्रभाषा में ही संबोधित करेंगे, उसका कोई अन्य विकल्प कैसे हो सकता है। तब हमें एक पृथक 'राष्ट्रभाषा नीति' बनानी होगी ताकि हमारी भाषिक अस्मिता को जाग्रत करने का काम किया जा सके और राष्ट्र भाषा दोयम दर्जे की निरीह प्राणी बनकर न रह जाये। भाषा का सवाल इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह ज्ञान व संस्कृति के सवाल से अभिन्न रूप से जुड़ा है। अंततः भाषा हमारी दृष्टि, ज्ञान परंपरा व संस्कृति की ही अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि हर शब्द के पीछे एक अर्थ, एक निश्चित भाव निहित होता है। वह भाव हमारे अनुभव, ज्ञान व संस्कृति को दर्शाता है। यथा 'जल' शब्द को लें और इसी वस्तु के लिए एक अन्य भाषा के शब्द 'वाटर' को लें। 'जल' शब्द के पीछे जो भाव निहित है व ***'Water'*** शब्द के पीछे जो भाव निहित है; इन

दोनों में गहरा फर्क है। ये फर्क दो अलग अर्थों–भावों के साथ–साथ जीवन को देखने की परंपरा व दृष्टि तथा मानव की दो भिन्न संस्कृतियों को व्यक्त करता है। 'जल' का अर्थ है, इस समग्र सृष्टि का ऐसा तत्व जो हमें पवित्रता व भुद्धता का अहसास कराता है। वाटर 'Water' का क्या मतलब होता है; हम ठीक से जानते नहीं। लेकिन कई बार मिनरल वाटर सुनता हैं तो लगता है ऐसा पदार्थ जो बाजार में बोतलबंद बिकता है। दूसरा शब्द बाजार की व्यवस्था व संसाधन का उपयोग व्यक्त करता है, ये दोनों का बुनियादी फर्क है। अब इसमें 'ज्ञान' ढूंढने जायेंगे तो क्या मिलेगा, ये खोजी लोग ढूंढें। भाषा की यह बुनियादी मान्यता समाजों की बुनावट को बुनती है। उनके सुख–दुःख, अच्छे–बुरे क्षणों में समाज को उबारती है। और जहां भी इसमें परिष्कार करने की आवश्यकता पड़े, युग चेतना के हिसाब से अपनी बुनियाद पर खड़े होकर बदलाव की मांग करती है। इसलिए अपने समाज को, उसकी बदलाव प्रक्रियाओं को व बेहतर भविष्य की संभावनाओं को खोजने के लिए अपने सांस्कृतिक परिवेश की भाषा की समझ अनिवार्य है। अन्यथा विकृति ही बढ़ेगी। इसलिए भाषा का सवाल जीवन की अस्मिता का सवाल है।

इसी बुनियाद से भारतीय समाज में भाषा की विडंबनाओं की भी समझ बन पायेगी। हम यहां भाषिक सवाल के साथ जुड़ी कुछ और सच्चाइयों को भी उद्‌घाटित करना चाहते हैं। जिस संस्कृति में 'जल' जैसे तत्व की अभिव्यक्ति हमें समाज व प्रकृति के साथ संबंधो से जोड़ती है। गंगा नदी भर न रहकर पवित्र 'जल' बन जाती है। वहीं इस संस्कृति का एक विरोधाभास यह है, कि पवित्रता–अपवित्रता का भाव जब मनुष्य समाज में प्रकट होता है तो सामाजिक विषमता पैदा होती है। कुछ लोग इसी पवित्र जल को छूते हैं तो कुछ अन्य के लिए वह अपवित्र हो जाता है। पहले में व्यापक अर्थ, दूसरे में व्यावहारिक संकीर्णता यह भारतीय समाज का कटु सत्य है और भाषीय अभिव्यक्ति का एक और आयाम भी। लेकिन समाज की इन व्यावहारिकताओं की समझ भी अपनी भाषा में ही बन पाती है। इसलिए स्वभाषा के प्रति स्पष्टता आवश्यक है। शब्दों के पीछे की मान्यताओं से यह पता चलता है कि किन–आधारों पर किन्हीं चीजों को पवित्र–अपवित्र मानने का संस्कार हमारे समाज में गहरा पैठा हुआ है। कामों में, श्रम आधारित कामों में भी यह परिलक्षित होता है। जिस कारण भारतीय समाज में, सफाई का, स्वच्छता का संस्कार कभी बन नहीं पाया। इसिलिए आज भी हमारे पवित्र कहलाने वाले स्थल भी वाचा में पवित्र है लेकिन व्यवहार में कचरे के ढेर बने हुए हैं।

2 अक्टूबर से केन्द्र सरकार ने 'स्वच्छता अभियान' चलाने की घोषणा की है कि उस दिन से हम स्वच्छ भारत बनाने का संकल्प लेंगे। यहां यह समझने की आवश्यकता लगती है सफाई स्वच्छता किसी सरकारी अभियान से ज्यादा सामाजिक–सांस्कृतिक संस्कार का अभियान है। जिसकी जड़ें हमको खोजनी होंगी। भारतीय समाज में श्रम के प्रति निकृष्टता के संस्कार के कारण पवित्रता–अपवित्रता का भाव इतने गहरे मनों में बैठा हुआ है कि किसी वेदपाठी ब्राह्मण से आप शौचालय की सफाई करने को कहेंगे तो वह नाक–भौं सिकोड़ेगा क्योंकि उसमें सफाई का वह संस्कार, श्रम का वह संस्कार ही नहीं है इसलिए

गांधी ने कहा कि यदि हमको सफाई का संस्कार डालना है तो इसकी भाुरुवात हमको शौचालयों से करनी होगी। उन्होंने ऐसा किया भी और आजीवन किया, किसी कार्यक्रम के तौर पर नहीं बल्कि अपनी आवश्यकता के तौर पर; आज हम गांधी नहीं हैं, न हो सकते हैं। इन परिस्थितियों में रास्ता निकालना है। हमारे बहुसंख्य समाज ने मान लिया है कि श्रम उनका काम नहीं है। इसलिए सफाई जो सबकी आवश्यकता है, आज एक समाज (जाति) विशेष का काम बनी हुई है और व्यापक समाज इस काम को करने वाले लोगों को हिकारत की दृष्टि से देखता है, अपवित्र मानता है, किसी के छू लेने भर से अपवित्र हो जाने के भाव में रहने वाले व्यक्ति में सामूहिक तौर पर सफाई का संस्कार कैसे आये, ये सोचने का विषय है। इसके लिए राष्ट्रीय स्वच्छता अभियान के साथ–साथ एक सामाजिक–सांस्कृतिक अभियान छेड़ने की आवश्यकता है। जो पवित्रता–अपवित्रता के संस्कार के सवाल पर, स्वच्छता व श्रम के संबंध के सवाल पर समाज में व्यापक बहस चलाये, उसके आइने में हम पवित्रता–स्वच्छता को देखें। अन्यथा समाज का एक वर्ग हमेशा की तरह आज भी सारे समाज का मैला सिर पर ढो ही रहा है। और हम जहां–तहां गंदगी फैलाते रहेंगे। सफाई रखना एक खास वर्ग का काम है इस चेतना से सफाई अभियान कहां पहुंचेगा, कहा नहीं जा सकता। क्योंकि यह सरकारी स्वच्छता अभियान गांधी का नाम लेकर भाुरू किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस को 'सफाई दिवस' करने की कोशिश भी इसमें दिखती है। इसलिए झाड़ू उठाने से पहले गांधी के झाड़ू को समझने की आवश्यकता है। गांधी का झाड़ू हमारी पवित्रता की मानसिकता वाले समाज के लिए एक बड़ी चुनौती है। इस अर्थ में वह झाड़ू बहुत बड़ा है। तब झाड़ू उठाने से पहले उसकी थाह आवश्यक है ताकि उस झाड़ू को पकड़ने की पात्रता व योग्यता हम विकसित कर सकें। अन्यथा झाड़ू को प्रदर्शनी व प्रचार का विषय बनाने के अलावा कुछ सार्थक कर नही पायेंगे।

हिन्दुस्तान में गंदगी की मनः स्थिति को समझने की जरूरत है। क्योंकि यहां, यह संस्कार सामाजिक विभाजन की मानसिकता से जुडा है। उसके मूल में पवित्रता–अपवित्रता का संस्कार है जो बहुत गहरे मनों में बैठा हुआ है कि कुछ काम तुच्छ हैं और कुछ पवित्र, साथ ही कुछ लोग तुच्छ हैं कुछ पवित्र। यह संस्कार हमारे यहां धार्मिक संरक्षण प्राप्त है। इसी मान्यता से जुड़ा है गंदगी के प्रति हिकारत का भाव और साथ ही उसकी सफाई के प्रति हिकारत का भाव। इसके साथ जुड़ा है, जो समाज इस कर्म को करता है उसको अपवित्र मानने का संस्कार। समाजों के इतिहास की बिडंबना है कि विजेता समाज अपने को श्रेष्ठ घोषित करता है व विजित समाज को हीन। विजेता समाज का कोई भी कृत्य, किसी भी आधार पर हो; अमर्यादित नहीं कहा जाता। ये सब नियम विजित समाज पर लागू होते हैं। वह समाज जो परंपरागत रूप से सफाई के काम में लगा है, लंबे समय से हारा हुआ समाज है। उस पर विजेता समाज ने अपनी तथाकथित श्रेष्ठताओं–योग्यताओं मान्यताओं को थोपा है। यह कितनी बड़ी बिडंबना है कि 'वाल्मीकि' जिनको पुराणकथाओं में आदि कवि माना जाता है, जिन्होंने दुनिया के सर्वप्रथम महाकाव्य की रचना की, जो एक महान ऋषि व अध्येता थे। उनके वंशज के रूप में खुद को मानने वाले लोग (वाल्मीकि समाज) समाज के सबसे निचले पायदान पर रहकर, एक पवित्रता की मानसिकता वाले

समाज का मैला सिर पर ढोने को विवश हैं। कृतज्ञताहीन समाज वाल्मीकि को पूजता है, उनके वंशजों को अपवित्र मानता है, हिकारत के भाव से देखता है।

इस बात को गांधी समझते थे इसलिए उन्होंने कहा कि, "हम दुर्जन हैं, अछूतों ने हमें हमारे सारे श्रम करके और अपने हाथ गंदे करके हमें आराम से और सफाई से रहने की सुविधा दी है। यदि हम चाहें तो हम भी हरिजन बन सकते हैं लेकिन इसके लिए हमें हरिजनों के प्रति किए गये पापों का प्रायश्चित करना पड़ेगा।" वर्तमान सरकारी स्वच्छता अभियान के पीछे कौन सी समझ काम कर रही है, हमें नहीं मालूम। लेकिन झाड़ू उठाने का हेतु व्यापक नहीं हुआ तो गांधी का झाड़ू हाथ में नहीं लिया जा सकता। मार्केट में 20—25 रूपये या उससे अधिक कीमत में मिलने वाले झाड़ू से हिन्दुस्तानी समाज में स्वच्छता अभियान चलाना सरकारी कार्यक्रम भर होगा जो कुछ औपचारिकताओं, प्रचार के बाद समाप्त हो जायेगा या स्थायी कर्मकाण्ड बन जायेगा; यदि उसमें समाज में पवित्रता—अपवित्रता के संस्कार पर बहस चलाने की क्षमता के साथ ही उस समाज के प्रति कृतज्ञता का भाव नहीं होगा जो सदियों से श्रेष्ठ समाज का कचरा ढो रहा है।

जहां तक इसके प्रायश्चित का सवाल है। हम गांधी के पास जायेंगे तो वे कहेंगे कि "हमें खुद भंगी बनना होगा। नकली, फोटो खिंचवाने वाला नहीं, बल्की असली।" इसलिए गांधी ने यह कामना की थी कि वे अगला जन्म भंगी के घर में लेना चाहेंगे ताकि सच की कृतज्ञता व्यक्त हो सके और वो अपनी श्रेष्ठता की ग्रन्थी का भी निस्तारण कर पायें। इसलिए गांधी का झाड़ू पवित्र मानसिकता वाले समाज में सफाई के अभियान की जगह, सफाई के संस्कार की मांग करता है। आज अगर मैला ढोने वाले समाज का कोई नागरिक यह मांग उठाये कि हमारी संस्कृति में 16 संस्कारों का प्रावधान किया गया है। उसमें एक संस्कार और जोड़ने की आवश्यकता है 'सफाई का संस्कार'। तो यह माँग औचित्यपूर्ण व जायज होगी। क्योंकि यह उस समाज के अनुभव व आवश्यकता से निकली हुई माँग होगी। अन्यथा हमारी संस्कृति में कर्मकाण्ड को भी स्थान मिला हुआ है। झाड़ू से सफाई करना भी एक कर्मकाण्ड बन जायेगा। प्रधानमंत्री जी के झाड़ू उठाने से उसे राजकीय संरक्षण प्राप्त हो ही चुका है।

सफाई की शुरुआत किस बस्ती से करें, इससे ज्यादा महत्वपूर्ण विषय है कि किस कर्मस्थल से करें। गांधी कहेंगे, "शौचालयों की सफाई से शुरुआत करो।" क्योंकि इस देश की बहुसंख्य जनता के लिए शौचालय कर्मस्थल नहीं है। तब झाड़ू उठाने से पहले शौचालय साफ करना होगा। यह कवायद निश्चित रूप में अभियान को आगे ले जायेगी। इसकी शुरूआत सार्वजनिक शौचालयों की सफाई से कर सकते हैं। निजी शौचालयों से भी, फिर मीडिया के फोटो की जगह अन्तर्मन की तस्वीर में झाँकने का अवसर मिलेगा। खुद को देश की संस्कृति का स्वघोषित वाहक मानने वाले लोग इस काम को ज्यादा बेहतर ढंग से कर सकते हैं। उनके पास सांस्कृतिक विरासत की एकता का भी लक्ष्य हो तो, यहां यह समझने की आवश्यकता है कि धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग स्वच्छता है। यह किसी वर्ग विशेष की नहीं बल्कि सर्वजन की जरूरत है। आज समाज के बहुसंख्य समाज के लिए

झाड़ू उनकी सामाजिक स्थिति व जीविका का विषय नहीं है। इसलिए सावधानी रखने की बात गहरी हो जाती है यह बिडंबना ही कही जायेगी कि जिस समाज ने प्राथमिक स्तर की सफाई को, सार्वजनिक स्थलों की सफाई को किसी वर्ग विशेष पर छोडा हुआ है, वो खुद को एक महान धर्म परंपरा से होने का दावा भी करते हैं। यहां झाड़ू की सफाई से पहले 'मन' की सफाई आवश्यक है, यह हमारे धार्मिक–सांस्कारिक आचरण का विषय है कि जो व्यक्ति स्वयं के बाहरी आवरणों की सफाई के प्रति अपवित्रता का भाव लिये है, वह 'मन' की सफाई तक कैसे पहुँचेगा? यह 'धर्म संवाद' का विषय बनना चाहिए। 'संस्कार–संवाद' का विषय बनना चाहिए। स्वयं की पैदा की गई गन्दगी की सफाई करने में मन में कश्मकश होती है तो भीतरी जगत की सफाई को कैसे युक्तिसंगत माना जायेगा?

भारत की महान सांस्कृतिक परंपरा को व्यवहारिक रूप में परिणत करने के लिए बहुसंख्य समाज को अपना स्वच्छता प्रशिक्षण शौचालयों की सफाई से करना होगा। कर्मकाण्डीय ढंग से नहीं बल्कि जीवन–धर्म के एक जरूरी उपांग–हिस्से के रूप में देखकर ताकि हम महान धार्मिक–सांस्कृतिक सिद्धान्तों को बोलते हुए स्वयं को गौरवान्वित भी महसूस कर सकें, अन्दर का खोखलापन नहीं। 'गर्व से कहो, हम हिन्दू हैं' जैसे वाक्यों–नारों का भाव तब हमारे अन्तस मे होगा; कोरा नारा भर नहीं होगा। तब 'हिन्दू' होना भी हमारी अस्मिता–गरिमा के साथ जुड़ा होगा। जो सर्व समाज को साथ लेकर चलने का सपना देखने वाला फिर वह 'हिन्दू' कहलाये या कुछ और नाम से संबोधित किया जाय, क्या फर्क पड़ता है? लेकिन समाज व्यवहारों–संस्कारों के परिवर्तन से फर्क पड़ता है। एक खास अर्थ में चीजो को परिभाषित करने की कोशिश से राजनीतिक स्थितियों को तो भुनाया जा सकता है लेकिन बुनियादी मजबूती नहीं की जा सकती। हमारी सांस्कृतिक विरासत–ऐतिहासिक विरासत हमें यही सीख देती है। इसके साथ कृतज्ञतापूर्ण भाव से जायेंगे तो एक समतापूर्ण समाज की बेहतर नींव रख पायेंगे। इस अर्थ में अध्ययन पाठ्यक्रमों में इन अध्यायों को जोड़ना एक दीर्घकालीन रणनीति होगी क्योंकि शिक्षा, संस्कारों को संप्रेषित करने का महत्वपूर्ण कारक व दीर्घकालिक माध्यम है। इससे परंपरा में ऐसे आवश्यक संस्कारों को स्थान दिया जा सकता है।

वर्तमान में इतिहास के पाठ्यक्रम में बदलाव की जो बहस भ्गुरू हुई है उसको रचनात्मक आयाम देने की कोशिश होनी चाहिए ताकि हम अपने समाज की धरातलीय हकीकतों से वाकिफ हो सकें। जो लोग इस इतिहास परिवर्तन की बहस को केन्द्र में रखकर यह कह रहे हैं कि 800 वर्ष बाद दिल्ली की सत्ता हिन्दुओं के हाथ में आयी है; वही विश्वगुरू होने का दावा भी करते हैं। लेकिन यह हमारी व्यावहारिक हकीकतों से कितना मेल खाता है, ये देखने का विषय है। सवाल यह उठता है कि इतनी महान आर्थिक–सांस्कृतिक विरासत व विश्वगुरू की भूमिका वाले देश को सैकड़ों वर्षो की गुलामी क्यों झेलनी पडी? आनुसांगिक सवाल यह है कि 800 वर्ष बाद हिन्दू राजा हुआ है ऐसा कहने वाले हिन्दू किसे मानते हैं? और 1947 को भारत द्वारा प्राप्त की गई आजादी को वे किस श्रेणी में रखते है? तब भी एक व्यक्ति प्रधानमंत्री बना था, क्या उसको हिन्दू कहने में

कुछ अतिरेक हो जायेगा? साथ ही वर्षों से आजादी का संघर्ष कर देश को आजाद् कराने वाले समाज के प्रति यह कैसा भाव होगा? यहां हम असली व नकली हिन्दू की बहस में नहीं पड़ना चाहते। क्योंकि हमारी सांस्कृतिक विरासत में 'हिन्दू' शब्द का इस्तेमाल बाहरी लोगों द्वारा किया गया है। अन्दर में तो भारत एक समाज है, एक समृद्ध स्वायत्त सांस्कृतिक क्षेत्र है। जहां आंचलिकतायें स्वायत्तशासी हैं और एक–दूसरे के सहयोग में हैं। इसलिए पहले प्रश्न पर ज्यादा चिंतन करने की आवश्यकता है कि एक समृद्ध–सांस्कृतिक समाज इतने वर्ष कैसे गुलाम रह गया? इतने वर्ष कैसे उसने अपनी भाक्ति गंवायी और विजेताओं के हाथों खेलता रहा। इस समाज में इतनी जड़ता कैसे घर कर गयी?

इन कारणों को ईमानदारी से खोजने जायेंगे तो पता चलेगा कि हमारे समाज के विभाजन की फाँक के कारण लंबे समय तक समाज को गुलामी का दौर झेलना पड़ा। इस समाज के सामाजिक विभाजन ने समाज के बहुसंख्य हिस्से को राज–काज, नीति–निर्धारण, ज्ञान परंपराओं व अध्ययन–शैलियों से दूर रखा। उनके मन में गहरा बिठा दिया गया कि वृहद् समाज की नीतियों–शैलियों, व राज–काज संबंधी कामों से हमको क्या मतलब? व्यापक समाज इस सामाजिक मानसिकता के कारण 'कोउ नृप होइ, हमें का हानी' की उक्ति पर अमल करता रहा। इसलिए सामूहिक रूप से इकट्ठे होकर कभी बाहरी आक्रान्ता–आक्रमणकारियों का सामना नहीं कर सका। जिस समाज में लोग एक–दूसरे के साथ बैठना–खाना तो दूर, भाक्ल देखने में भी अपना दुर्भाग्य या अशुभ समझते हों वे किसी देश की रक्षा के लिए सामूहिक रूप से कैसे लड़ पाते? पहले से विभाजित समाज को तोड़ने के लिए बाहरी आक्रमणकारियों को ज्यादा मशक्कत नहीं करनी पड़ी। केवल सत्ता पर उपस्थित लोगों से मामूली संघर्ष में ही काम बन गया। सत्ता के नजदीकी रहे बौद्धिक समूह के चरित्र का इतिहास बड़ा विकट है जो हमें गुलामी के एक और आयाम की तरफ ध्यान दिलाता है। जो लोग (समूह) ज्ञान परंपराओं को केवल व केवल अपनी एकाधिकार–वर्चस्व की वस्तु मानते रहे हैं उनको किसी भी सत्ता के नजदीक रहने में कोई तकलीफें नहीं उठानी पड़ती। उनको क्या फर्क पड़ता है कि कल हिन्दू राजा था, फिर मुगल होगा या अँग्रेज होगा। हिन्दू के समय में उनको प्रथम दर्जे का सम्मान था तो किसी अन्य के समय में दूसरा दर्जा तो कहीं छिनने वाला नहीं है। इन्हीं की मानसिक दासतां की स्वीकार्यता की वजह से विदेशी भाासक व्यापक समाज में भी अपनी दखलअंदाजी कर सका, उनकी बगावत की कोशिशों को यहीं के बौद्धिक चरित्र ने पंगु बना दिया। इतिहास में समाज की बौद्धिक ज्ञान संपदाओं के स्वयंभू वाहक वर्ग व समाज विभाजन की स्थितियों व इसका गुलामी के दौर से संबंध के सवाल पर गंभीर चिंतन चाहिए तब हम नये सिरे से इतिहास लेखन को समाजोपयोगी बना सकेंगे। लोगों के अन्तस की भावनाओं की भड़काने के लिए तो कुछ भी कहा जा सकता है पर यह समाजों के इतिहास लेखन के प्रति न्याय नहीं होगा।

पूरे राष्ट्र व समाज के बारे में सोचने का दायित्व लिये लोगों के सामाजिक आचरणों का इतिहास लिखें। किसी सत्ता के साथ गठजोड़ कर चलने की उनकी इच्छाओं का चित्रण

करें व साथ ही व्यापक समाज में चल रही उस समय की हलचलों का विवरण तथ्यात्मक व विश्लेषणात्मक ढंग से इतिहास में दर्ज हो। अन्यथा इतिहास एक काल्पनिक दिवास्वप्न की तरह अपने ढंग से मनमानी परिभाषित की गयी घटनाओं का पिटारा मात्र होगा। इससे भविष्य के बेहतर समाज के लिए कोई राह नहीं निकल पायेगी। इतिहास बेहतर भविष्य की नींव भी है, केवल राजाओं की लड़ाई–गुलामी व अपनी आत्ममुग्धता, आत्मरंजना का साधन भर नहीं है तो इतिहास को जीवंत समाज के साथ जोड़ना अनिवार्य हो जायेगा। केवल पुरानी घटनाओं के विवरण से हम कुछ समय उत्तेजित या हतोत्साहित तो हो सकते हैं पर बेहतर भविष्य व समाज की नींव इससे नहीं रखी जा सकेगी। बल्कि उसका उपयोग समाजों के बीच वैमनस्यता फैलाने में ही होगा और साथ में अपने जातीय अहंकार की पुष्टि भी। इस दृष्टि से मानव समाजों के सामाजिक–सांस्कृतिक–मानसिक विकासक्रम का इतिहास लेखन अभी भोष है। पिछली घटनाओं के विवरण में आवश्यक नहीं कि सब ज्यों का त्यों घटित हुआ हो लेकिन समाज अपनी कमजोरियों–नाकामियों–मजबूतियों के साथ हमेशा जिन्दा रहता है। वह इतिहास की कई घटनाओं की तरह मृत्यु का भग्नावशेष नहीं होता। समाज पिछली घटनाओं की एक जीवंत व प्रामाणिक अभिव्यक्ति होता है।

हमारा आज का समाज इस स्थिति में कैसे पहुँच गया? इसका गंभीर विश्लेषण जरूरी है। इतिहास के पाठ्यक्रम में बदलाव की कोरी बहसों के बजाय अलग–अलग समाजों की आज की जिन्दा स्थितियों के अध्ययन को भी इतिहास की अध्ययन वस्तु के रूप में देखा जा सकता है। हम हिन्दू हैं या मुगल, कच्चे है या पक्के, असली हैं या नकली; इसको किन्हीं पुरा–कथाओं के आधार पर तय करने के बजाय वर्तमान समाज की अपनी–अपनी स्थितियों पर नजर डालकर देखें और उस परिपेक्ष्य में विगत की घटनाओं को देखें तो हमको आइने में अपना चेहरा ज्यादा साफ नजर आने लगेगा। कारण यह कि पिछले इतिहास का जीवंत प्रमाण हमारा आज का समाज है जो गिर–पड़–घिस–पिट कर जीवंतता के साथ अब भी चल रहा है। इसी समाज में झाड़ू का भी एक इतिहास है। हम वाकई ईमानदारी से सफाई अभियान चलाना चाहते हैं तो समाज में झाड़ू व झाड़ू से जुड़े लोगों का इतिहास लिखें कि कैसे झाड़ू किसी समाज विशेष का काम बन गया, इसे इतिहास की पाठ्यवस्तु बनायें ताकि वो संस्कार रूप में व्यापक समाज में जाये क्योंकि शिक्षा का संस्कार से गहरा संबंध है। झाड़ू से जुड़े समाज की खूबियों व व्यापक समाज की कमजोरियों का जिक्र इसमें हो। यह कैसी बिडंबना है कि हम अपनी की गयी गंदगी की स्वच्छता के लिए भी परनिर्भर हैं। अहंकार के नियमन का रास्ता भी यहां से खुलता है। इस रास्ते से भले ही हम विश्वगुरू नहीं हो सकें लेकिन अपनी आत्मा के नजदीक अवश्य हो पायेंगे। हो सकता है हम अन्य लोगों को भी स्वयं के सदृश महसूस कर उन्हें गले लगा सकें। वास्तविक पवित्रता की ओर बढें।

हमारे पूर्वजों ने यह सपना देखा है इसलिए सर्वे भवन्तु सुखिनः कहा! अहम् भवतु सुखिनः नहीं कहा क्योंकि वे जानते थे कि अकेले सुखी होने का कुछ अर्थ नहीं है। सुख तो सामूहिकता में है परस्परता में है और परस्परता बिना समाजों के आपसी विश्वास के

हो नहीं सकती। यदि हम हिन्दू भी हैं तो इस पर गौरव कर सकने का अधिकार अपने समाज ही नहीं बल्कि विरोधी विचार वालों को भी होना चाहिए। ऐसा हिन्दुत्व किसी अन्य के विकास में बाधक न होकर सहयोगी होगा। अब सवाल ये है कि क्या एक विशाल संस्कृति का वाहक खुद को मानने वाले लोग इस क्रान्ति का अगुवा खुद को बनायेंगे? जो केवल उथले–उथले जुमलों से राजनीतिक रोटियां नहीं सेकेंगी बल्कि हिन्दुस्तानी समाज को एक साझा सपने की तरफ बढ़ने में मदद करेगी। तब आखिरी पायदान पर मैला ढोने वाला व्यक्ति भी इस साझा सपने का साझेदारी होगा व खुद को गौरवान्वित महसूस कर पायेगा कि उसने भी इक्कीसवीं सदी में प्रवेश किया है। 20वीं सदी के तमाम परिवर्तनों ने हमें 21वीं सदी की दहलीज पर खड़ा किया, जहां पुराने आदर्शो में तो परिवर्तन की बयार चली है पर सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवहारों में इसका असर कम रहा है। परिणामस्वरूप हमारे व्यवहार कुछ मामूली फेरबदल के साथ जस–के–तस बने हुए हैं। जिनमें व्यापक परिवर्तन की जरूरत है। दूसरी तरफ आधुनिक सभ्यता समाज को जोड़े रखने वाले, प्रकृति के प्रति सामंजस्यतापूर्ण कर्म–व्यवहार की मान्यताओं को अपनी स्वच्छंद भाक्तियों के सहारे रौंदती चली जा रही हैं। इस समय में दो चुनौतियां हैं; पहली अपनी सामाजिक–सांस्कृतिक मान्याताओं–परंपराओं को नई चेतनाओं की रोशनी में समाजपरक व मानवीय बनाना। दूसरा संयुक्त रूप से नई आर्थिक साम्राज्यवादी ताकतों का मुकाबला करना। साथ ही नवीनीकृत सामाजिक–सांस्कृतिक आधारों पर प्रकृति के साथ पूरकता व ब्रह्माण्ड के साथ कृतज्ञतापूर्ण संबंध–वाली व्यवस्था को खड़ा करो, अन्यथा मनुष्य समाज जितनी सुविधाओं के एकत्रीकरण की तरफ बढ़ रहा है। स्वयं में व्यवस्था को देख पाना व समग्र व्यवस्था में अपनी भागीदारी को देखने–समझने की शुरुआत अब करनी होगी। अन्यथा 20 वीं सदी में जितने भी नये बदलाव हुए 21वीं सदी का अंत मानव जाति के इतिहास–भूगोल का अंत भी साबित हो सकता है। वर्तमान प्रकृति व मानव विरोधी यांत्रिक बाजार–व्यापार पर आध ारित व्यवस्था को देखकर तो यही लगता है।

इस सदी में कोई भी सामाजिक–राजनैतिक आर्थिक कदम मनुष्य के अस्तित्व के सवाल को केन्द्र में रखकर उठाना होगा। स्मार्ट सिटी, स्मार्ट गांव के साथ हमको स्मार्ट मनुष्य; स्मार्ट समाज की भी आवश्यकता है। अन्यथा ऐसा न हो कि नई सुविधा आधारित कुछ स्मार्ट सिटी, स्मार्ट गांव तो बन जाय पर वहां आपको संपूर्ण वैभव, आजादी के साथ, परस्पर संबंधो को जीता हुआ आदमी नसीब न हो। एक मशीनी पुर्जा, इंसानी मशीन भर दिखे। इसलिए 'स्मार्ट' का मतलब व्यापक करना होगा। मशीनों से दुनिया को देखने की कोशिश व जड़ मशीनों के साथ जीने की कोशिश हमें कहां ले जायेगी, इसका आंकलन करना होगा। क्या मनुष्य जड़ पदार्थो का संचयन–विघटन भर है? या कुछ और भी? ये सवाल हमको नई संस्कृति की तरफ ले जायेंगे। गांधी का झाड़ू इसमें हमारा मार्गदर्शन कर सकता है। क्योंकि वह मानव समाज के अस्तित्व के सवाल की बुनियाद पर खड़ा है। विश्व के साथ वस्तु व्यापार के माध्यम से जुड़ने के कोरे सपने का वह सांस्कृतिक हल देने में समर्थ है। गांधी का झाड़ू कहेगा मनुष्य समाज के बुनियादी आधारों–लक्ष्यों को तय कर लो। उसके बाद लाओ चाहिए तो विदेशी निवेश, बनाओ स्मार्ट सिटी, आदर्श गांव, करो मेक इन

इंडिया की बात, पकड़ो सफाई के लिए झाड़ू हाथ में। लेकिन पहले तय कर लो कि मनुष्य की बुनियादी जरूरतें क्या हैं। मनुष्य के पारिवारिक–सामाजिक–सांस्कृतिक–प्राकृतिक संबंधों को समझ लो। जिसमें मानव समाज इस अखिल ब्रह्मांड में अपने होने के संपूर्ण वैभव के साथ जी सके। अपनी स्वतंत्रता को महसूस करे व समग्र व्यवस्था में भागीदारी के साथ जी सके। मानव के बृहद लक्ष्य के साथ फिर आवश्यकतानुसार जो चीजें फिट बैठती हैं उन्हें ले आओ, बनाओ। यह तो द्वितीयक काम है। बाकी जो चीजें मनुष्य–मनुष्य के बीच में विषमता पैदा करती हैं वह तो कूड़ा है उन्हें हटाओ। गांधी का झाड़ू देश–समाज में फैले अनावश्यक कचरे को हटाने का भी मार्ग सुझाता है। यह समाज व सभ्यता के समस्त फलकों को खुद में समेटे हुए है। यदि हम वाकई अपनी विरासतों के प्रति विनम्र हैं तो गांधी के झाड़ू से बाह्य सफाई से पहले बृहद लक्ष्य व सपने के साथ मन की सफाई करें। तब इस महान विरासत के झाड़ू को पवित्रता व कृतज्ञता के भाव से उठायें। हम अपने में एक नई आत्मिक स्फूर्ति महसूस करेंगे और भारतीय समाज की एकता के साथ विश्व के पटल पर दुनिया को जीने का एक नया व ज्यादा मानवीय रास्ता दिखा सकेंगे। यदि ऐसा हुआ तो, 21वीं सदी हमारे सपनों का साकार करने के लिए बाहें फैलाये स्वागत करेगी। वह सदी हमारी साझी सदी होगी।

# ubl lLdfr dh jkg

आधुनिक कहे जाने वाले आज के युग में सब तरफ सुनाई देता है कि हमारी संस्कृति पर हमला हो रहा है, मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है। मनुष्य के तमाम संबंध छिन्न–भिन्न हो रहे हैं। कई लोग कहते हैं कि यह पश्चिमी संस्कृति के कारण हो रहा है। हमारी भारतीय संस्कृति में तो ऐसा नहीं था। भारतीय संस्कृति कुछ और सिखाती है, इत्यादि, इत्यादि। इस ऊपरी–ऊपरी बहस के बीच न भारतीय संस्कृति की ठीक से पड़ताल हो पाती है न पश्चिमी संस्कृति की और न ही केवल निपट संस्कृति की, जिसमें पूर्वी–पश्चिमी से ज्यादा मानवीय समाज की चिंता झलकती हो।

इस सबके बावजूद जब हम मानव समाज की बात करते हैं तो असल में समाज की संस्कृति की ही बात कर रहे होते हैं। हमारे सार्वजनिक व व्यक्तिगत कर्म–आचरण हमारी संस्कृति का ही हिस्सा हैं। संस्कृति ही मनुष्य को प्रकृति की अन्य इकाइयों–व्यवस्थाओं से अलग पहचान दिलाती है। प्रकृति में हर चीज अपनी प्राकृतिक व्यवस्था के तहत चल रही है। लेकिन मनुष्य समाज के साथ ऐसा नहीं है। मनुष्य, प्रकृति की तय व्यवस्था के तहत नहीं बल्कि अपनी बनाई संस्कृति के तहत जीता है। उसका जन्म–मरण, सुख–दुःख, अच्छा–बुरा, पाप–पुण्य एक संस्कृति के तहत घटित होता है। जीवों–प्राणियों में ऐसा नहीं है। इसलिए मानव समाज पर चिन्तन करते हुए उसकी संस्कृति पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। बिना उसके मानव समाज निर्जीव–निरीह है। उसकी क्षमताओं–संभावनाओं का आँकलन इससे नहीं हो पाता।

आज जबकि संस्कृति–अपसंस्कृति पर सबसे ज्यादा बहस है। पूरब की संस्कृति, पश्चिम की संस्कृति, उपभोग की संस्कृति–त्याग की संस्कृति, शान्ति की संस्कृति–लूटपाट की संस्कृति, ग्रामीण संस्कृति–शहरी संस्कृति इत्यादि संबोधनों से हम संस्कृति को अलग–अलग मानसिकता के दायरों में परिभाषित कर रहे हैं और अपनी संस्कृति को महान घोषित करने की कवायदों में जुटे हैं तो वाकई एक यक्ष प्रश्न खड़ा होता है कि आखिर संस्कृति है क्या? कहाँ से होती है इसकी उत्पति व समाज निर्माण में इसकी क्या भूमिका है? इन सवालों की तह तक जाने के लिए इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने की आवश्यकता महसूस होती है।

मनुष्य समाज के सांस्कृतिक इतिहास को देखें तो यह दीखता है कि आदिम मनुष्य घुमक्कड़ी का जीवन व्यतीत करता था व झुण्ड के रूप में रहकर अपना जीवन यापन

करता था। उस समय का मनुष्य परिवार, गांव, समाज, नगर की कल्पना तक नहीं कर पाया था। लेकिन समूह रूप में रहने की एक व्यवस्था जरूर बना ली थी। जिसे आज हम 'कबीला' की व्यवस्था नाम से जानते हैं। लेकिन विकासक्रम में जैसे ही मनुष्य ने खेती का कर्म शुरू किया तो कालान्तर में झुण्ड की जगह समूहों के रूप में स्थायित्व के साथ रहने की आवश्यकता महसूस होने लगी। इसी से परिवार व्यवस्था अस्तित्व में आयी व संयुक्त परिवार की परंपरा की शुरूआत हुई। यही संयुक्त परिवार छँटते–छँटते एकल परिवार व आज छोटा परिवार–सुखी परिवार इत्यादि में तब्दील हो गया है। यहां गौरतलब है कि परिवार की शुरूआत कृषि सभ्यता के जमाने में हुई थी। कृषि आधारित व्यवस्था होने के कारण धीरे–धीरे उससे जुड़े हुए तमाम प्रकृति आधारित उद्योगों का भी जन्म हुआ। इस तरह की व्यवस्था में जीते हुए मनुष्य ने धीरे–धीरे समाज की नींव डाली। कृषि–नदी–जंगल आधारित इसी व्यवस्था को हमने कालान्तर में 'अरण्य संस्कृति' नाम दिया। इसके इर्द–गिर्द मनुष्य समाज का ताना–बाना बुना गया। सुख–दुःख, आनन्द–पीड़ा की तमाम स्थितियां इसी व्यवस्था पर आधारित रही। जहां परिवार, परिवार से गांव, गांव से समाज, समाज से देश व इसके बाहर की सृष्टि को देखने–समझने–जीने का एक पूरा उपक्रम विकसित हुआ। इसी कृषि–नदी–जंगल–स्थानीय उद्योग आधारित समाज में विभिन्न उपयोगी कलाओं का भी सृजन किया गया। विभिन्न उत्सवों का जन्म हुआ। आज भी हम देखें तो हमारे अधिकांश उत्सव, त्यौहारों को, जिन्हें हम मना रहे हैं वे कृषि आधारित, नदी आधारित–जंगल–प्रकृति आधारित हैं। हमारे समाज का पुराना पहनावा–खान–पान, घर निर्माण की कला भी यहां की प्रकृति की आबोहवा व कृषि–उद्योग कर्म के अनुकूल होने का संकेत देती है। इन्हीं के साथ जीते हुए लोगों ने अपने दैनिक कर्म व प्रकृति के साथ जो महसूस किया उस पर गीत बनाये, थिरके, झूमे व एक सामूहिकता में इस कर्म को किया। इसके साथ–साथ लोगों ने धीरे–धीरे उन लोगों को भी पूजना शुरू किया जो बहादुर थे। जंगली जानवरों व अन्य समुदाय के हमलों से लोगों की रक्षा कर सकते थे। ऐसे लोग कालान्तर में 'राजा' कहलाये। उनको भी बात–बात में पूजा जाने लगा। वे भी उत्सव–त्यौहारों के कारक–अंग बनने के साथ–साथ देवता व भगवान की उपाधि तक पहुँच गये। अपने समाज के कार्यों को उत्सव के रूप में मानने के साथ–साथ व्यक्ति विशेष के कर्मों को भी उत्सव रूप में मनाने की एक परंपरा की शुरुआत हुई जो आज भी जारी है।

आज विडंबना देखिए कि आधुनिक कहलाने वाले समाज में हम एक नया 'सामूहिक उत्सव–त्यौहार' तक नहीं बना पाये हैं जिसकी सर्व समाज में स्वीकार्यता हो और समाज उसे होली–दीवाली–ईद की तरह मनाये। हां तमाम तरह के 'डे' (दिवस) जरूर घोषित कर दिये हैं। जो किसी उत्सव का आभास कम, कमी व भय का आभास ज्यादा देते हैं। महिलाओं को समाज में उचित सम्मान, स्थान न मिल पाया हो तो 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस' मनायेंगे। जीवन में प्यार की कमी तो 'वेलेन्टाइन डे' मनाओ। मजदूरों पर अत्याचार तो 'मजदूर दिवस' मनाओ इत्यादि। फेहरिस्त लंबी है। जिस पर संकट नजर आता है उसको 'डे' घोषित कर दो। नौबत पृथ्वी दिवस, विश्व पर्यावरण दिवस तक पहुँच गयी है। भूल से यदि अन्य ग्रहों पर भी पहुँच हो गयी तो ब्रह्माण्डीय संकट के तौर पर 'ब्रह्मांड

दिवस' या अंतरिक्ष दिवस की नौबत आयेगी। कभी ऐसा होगा कि साल का कोई भी दिन ऐसा न होगा जब कोई दिवस न हो। लेकिन चीजों को देखने वाली हमारी मानसिकता जस की तस रहेगी। गंभीर चीजों को हल्के ढंग से देखने का परिणाम है 'दिवस'; इन दिवसों में हम प्राचीन उत्सव–त्यौहारों सा आनन्द नहीं ले पाते क्योंकि यहाँ जीवन की प्रेरणा की जगह केवल कर्मकाण्डीय पाठ है। फिर भी इन दिवसों की महत्ता पर वे लोग ज्यादा प्रकाश डाल पायेंगे, जो आये दिन इन्हें गढ़ रहे हैं।

कृषि व जंगल संस्कृति का एक और पहलू है। हम अक्सर ये कहते हैं कि हमारे पूर्वज वनवासी (जंगली) थे। जिनको आज हम दुनिया की सर्वश्रेष्ठ रचनाएं मानते हैं; रामायण, महाभारत, गीता, उपनिषद, स्वास्थ्य ग्रन्थ इत्यादि। इन सब साहित्य को जंगलों में रचा गया प्रकृति के पास में रहकर रचा गया। यह सब किसी एयर–कंडीशनर रूम में या राजमहलों में नहीं रचा गया। बल्कि यह माना गया कि जीवन का वास्तविक साक्षात्कार करना है तो प्रकृति की गोद में, प्रकृति के निकट में रहकर ही हो सकता है। क्योंकि हम भी इसी प्रकृति की अनुपम कृति हैं। इसलिए अपने जीवन की वास्तविकताओं को खोजने के लिए राजकुमारों को भी जो शिक्षा दी गयी वो राजमहलों में नहीं बल्कि इस प्रकृति के वातावरण में दी गयी क्योंकि जीवन की वास्तविकताओं का पता जीवन्तता के समीप रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है। जीवन के रहस्यों का उद्‌घाटन प्रकृति के रहस्यों के उद्‌घाटन के साथ ही किया जा सकता है। राजमहलों के लोगों की शिक्षा तो हुई पर राजकुमारियों की शिक्षा पर कुछ मौन जरूर छा जाता है। तब का व्यापक समाज प्रकृति के पास में रहकर ही जी रहा था इसलिए उसको किसी अन्य वातावरण की आवश्यकता न रही होगी। कुल मिलाकर अपने विरोधाभासों के बावजूद इस परंपरा ने देश को कई निराभिमानी मनुष्य दिये। जिन्होंने अपनी महत्वाकांक्षाओं, अहंकारों का तिरोहण कर मानव समाज को प्रेरणा दी। ये इस कृषि–जंगल–नदी आधारित समाज की देन थे। जिनको आज हम अपने अहंकार को पुष्ट करने हेतु यह कहते नहीं अघाते कि हमारे पूर्वज कितने महान थे। जिन्होंने अपने अहंकार के तिरोहण में जीवन दिया हम उनके लिए अपने अहंकार का तुष्टिकरण करते हैं, यह कितनी हास्यास्पद बात है। इस संदर्भ में विवेकानंद जी के जीवन की एक घटना याद हो आती है। विवेकानंद श्रीनगर में थे, वे वहां मां भवानी के मंदिर में दर्शन करने गये। मंदिर में जाकर उन्होंने देखा कि मां भवानी की मूर्ति खण्डित की गयी है। वे कहते हैं "उनको इतना गुस्सा आया कि लगा यदि इस मूर्ति को खण्डित करने वाला सामने होता तो उसका सर कलम कर देता। तभी वो कहते हैं कि जब मैं इतने गुस्से में था तो अचानक एक आवाज आयी कि हे मूर्ख! उस माँ के लिए तू लड़ेगा जो जगत की जननी, पालनकर्ता है। इतना अहंकार। मैं जमीन में वापस आ गया, वास्तविक जमीन पर।" विवेकानन्द जी की आन्तरिक स्थिति में भी जो परिवर्तन होता है यह उसी संस्कृति के बीज की देन है जो यह चेताती है कि हे मूर्ख! दुनिया को तू जितना समझ रहा है, यह उतनी भर नहीं है। वन–नदी–कृषि आधारित पारिवारिक–सामाजिक व्यवस्था ने हमें भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ–साथ अपने अहंकार के तिरोहण के भी सूत्र दिये जो हमारी जंगली संस्कृति की पूंजी है। जिसे हम आज असभ्यता कहेंगे लेकिन पूजेंगे भी।

इसी के समानान्तर जिसे आज हम पश्चिमी संस्कृति कहते हैं। जिसमें प्रकृति को एक साधन रूप में देखा गया। जिससे व्यापार का कर्म प्राथमिक कर्म हो गया। व्यापार के साथ–साथ उसकी अनिवार्यता है कि उद्योग बढ़ा, औद्योगीकरण बढ़ा। जब व्यापार व उद्योग प्रमुख हो गया तो समूह रूप में हम परिवार आधारित होकर कृषि करते थे वैसे काम करना मुश्किल हो गया और नौकरी जैसी चीज अस्तित्व में आयी। नौकरी तो नौकरी है। खेती व उस पर आधारित उद्योग का काम तो परिवार के साथ रहकर हो सकता है पर नौकरी के लिए तो परिवार से बाहर जाना पड़ेगा ना। जहाँ मिलेगी वहां जाना पड़ेगा। अब परिवार में कोई व्यक्ति नौकरी करता है तो निश्चित है उसको लगेगा कि वो जो कमा रहा है, उस पर सबसे ज्यादा हक उसका है। वह अपनी कमाई का हिस्सेदार सबको नहीं बनाना चाहेगा। इसलिए इस व्यवस्था के आने के बाद कृषि–उद्योग पर टिकी परंपरागत परिवार व्यवस्था में टूटन आनी शुरू हो गयी। परिवार, संयुक्त से बिखरने लगा जो सुख–दुःख अभी तक सामूहिक थे वे अब पति–पत्नी व बच्चे तक सिमटने लगे। सगे संबंधी जो परिवार के बाकी लोग हैं उनसे अलग रहने की स्थिति में उनसे प्यार लगाव में भी कमी आ गयी।

अब, मनुष्य में एक प्राकृतिक व्यवस्था है स्वतंत्रता की चाह। प्रकृति ने चाह तो दी है। पर स्वतंत्रता से जीने का कोई रेडीमेड समाधान नहीं दिया। आशा, विचार, कल्पना दी कि भई खुद ही स्वतंत्रता का रास्ता खोजो इनके जरिये। कल्पना व महसूस करने की क्षमता दी है। छोटे परिवार में रहकर हमको लगा कि हमारी स्वतंत्र ढंग से रहने–कर्म करने व जीने की इच्छा पूरी हो जायेगी। व्यक्तित्व को ज्यादा स्पेस मिलेगा। और एक हद तक यह हुआ कि पति–पत्नी के रूप में केवल अपने परिवार के दायित्व का निर्वहन करना होता है, अपनी मर्जी व आजादी से रहने का एक भाव जरूर महसूस होता होगा; लेकिन जितनी व्यापकता पारिवारिक जीवन में आनी चाहिए थी उतना आ नहीं पाई है। नौकरी की अर्थव्यवस्था के कारण परिवार की आर्थिक सुरक्षा के लिए संघर्ष लगातार बढ़ रहा है। इसमें हर एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा में है। दूसरे से ज्यादा सुखी सम्पन्न तथा सुरक्षा चाहता है। इसी कोशिश में व्यक्ति की संवेदनशीलता तो घट ही रही है, साथ में इस व्यवस्था में स्वयं की पोजिशन को बनाये रखने के तनाव के साथ–साथ घर में पत्नी–बच्चों को खुश रखने की जिम्मेदारी भी होती है। यदि पति–पत्नी दोनों नौकरी में हों तो टकराव की संभावना और बढ़ जाती है। और स्थितियां पारिवारिक विघटन तक पहुंच रही हैं। बच्चे कहीं अधर में लटके रह जाते हैं। फिर पत्नी–बच्चों को भी चीजों से खुश करने का प्रयास चलता है। और परिवार, जो संबंधों के खिलने, व्यक्तित्व के निखरने की जगह हो सकती थी, एक–दूसरे को न चाहते हुए भी झेलने का प्लेटफॉर्म बन रहा है। नौकरी व पैसा आधारित इस व्यवस्था ने अपनी मर्जी से आज़ादी से जो चाहे वो करने व जैसे चाहें वैसा जीने के सपने तो दिखाये हैं पर वो सपने भर रह गये लगते हैं। नौकरी की प्रतियोगिता में अपने को टिकाये रखने व ज्यादा अर्जित करने के लिए बेईमानी का सहारा लेता व्यक्ति, परिवार की मूलभूत आवश्यकता, आपसी स्नेह–प्रेम को भी परिवार में लुटाना चाहेगा तो यह कैसे संभव हो सकता है। इसलिए कुछ न कुछ नकलीपन अपनाना होता है इसलिए

हमारा व्यक्तित्व दोहरा बन रहा है। इस स्नेह की कमी में अपने जीवन को अकेले झेलना इस व्यवस्था की नियति है। बाजार की एक व्यवस्था इस तनाव को कुछ समय भुलाने में मदद तो करती है पर कब तक। यह भी एक सांस्कृतिक परिदृश्य है जहां व्यक्ति पैसे के लिए जन्मता है, पैसे से सबकुछ पाने की कोशिश करता है और पैसे के संघर्ष में दुनिया से रूख्सत हो जाता है।

दुनिया के कैनवस पर निगाह डालें तो एक और परिदृश्य दिखाई देता है जहां हिंसा व लूटपाट के जरिये पूरी दुनिया पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की कोशिशें की जा रही हैं। यह उपरोक्त दोनों शैलियों से न जी पाने का परिणाम है कि दुनिया का एक हिस्सा, दुनिया की तमाम व्यवस्थाओं को हिंसा के जरिये नेस्तनाबूद करने की तरफ कदम बढ़ा रहा है। फिर चाहे यह कवायद धार्मिक वर्चस्व स्थापित करने के लिए हो या आर्थिक साम्राज्यवाद से उपजी दादागिरी के खिलाफ। ये स्थितियां बन रही हैं। लेकिन हम अपनी कट्टरताओं के घेरों व ज्ञान की सीमाओं से बाहर नहीं आना चाहते। हमारी विडंबनाओं की शुरुआत यहां से होती है। संस्कृति को देखते समय इन सब पहलुओं को ध्यान में रखने की आवश्यकता होती है। हम मनुष्य के बुनियादी सवालों पर आकर संस्कृति की व्यापकता को समझ सकते हैं। मनुष्य केवल भौतिक संसाधन नहीं है। केवल भौतिक इकाई भी नहीं है तो आर्थिक जरूरत के साथ–साथ यह प्रश्न उठेगा कि संपत्ति की या आज के लिहाज से कहें तो मनुष्य को पैसे की आवश्यकता क्यों है? कितना धन चाहिए? हमें रोटी, कपड़ा, मकान चाहिये, ये आर्थिक प्रश्न है। लेकिन कितना चाहिए? कैसा खाना, कपड़ा, मकान चाहिए? क्या खाना, कपड़ा, मकान ही चाहिए या स्नेह–प्रेम भी चाहिए? ये प्रश्न सांस्कृतिक प्रश्न है। इनके जवाब से संस्कृति निर्मित होती है। अन्यथा सवाल पशुता तक जाता है। खाना चाहिए, इतनी ही बात होगी। क्यों चाहिए? कैसा चाहिए का प्रश्न ही नहीं रहेगा इससे जो स्थिति पैदा होगी उसी को अपसंस्कृति कहा जा सकता है। यदि संस्कृति केवल आर्थिक प्रश्न नहीं है तो इन सवालों पर सोचना होगा। आपको खाना–पानी मिला पर अपमान–तिरस्कार के साथ तो खा–पी पायेंगे क्या? या खाना मिला स्नेह के साथ तो कोई बुनियादी फर्क पड़ेगा या नहीं। ये सांस्कृतिक सवाल हैं।

परिवार व्यवस्था की बुनियाद पर जायें तो ये सांस्कृतिक सवाल महत्वपूर्ण हो जाते हैं। मनुष्य स्वतंत्रता की चाह के साथ स्नेह का भी आकांक्षी है। वर्तमान व्यवस्था में वह स्वतंत्रता के लिए मनमर्जी की तरफ बढ़ा है और स्नेह को वस्तुओं के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है। संघर्ष का कारण यही है। इस स्नेह की आकांक्षा के कारण ही मनुष्य ने परिवार का गठन किया है। लेकिन स्वतन्त्रता व स्नेह की चाह की पूर्ति के लिए परिवार की आर्थिक जरूरतों की पूर्ति भी परिवार व्यवस्था का एक अंग है क्योंकि बच्चों के भरण–पोषण का दायित्व भी परिवार का ही है। हमें ठीक से नहीं मालूम कि कृषि सभ्यता के समय में पारिवारिक स्नेह की क्या स्थिति रही होगी। लेकिन आज ये कहा जा सकता है कि परस्पर स्नेह की जरूरत तो दूर रही हम परिवारों की भौतिक आवश्यकता की पूर्ति भी ठीक से नहीं कर पाये हैं। हर युग की अर्थव्यवस्था को उस समय के समाज की आर्थिक जरूरतों

का निदान करना होता है ताकि सांस्कृतिक गुणों के विकास के लिए स्थान बन सके।

यदि हमारे आर्थिक जीवन के प्रश्न हमारी सांस्कृतिक बुनियाद से निकलेंगे तो अर्थव्यवस्था को एक सांस्कृतिक व्यवस्था के अनुरूप गढ़ना होगा। तब अर्थव्यवस्था इतनी स्वच्छन्द नहीं हो सकती जैसी आज हो गयी है। और यह सांस्कृतिक व्यवस्था हमारे स्वभाव, स्वतंत्रता व स्नेह की आकांक्षा पर आधारित होगी। अन्यथा अपने दस हजार साल के लिखित इतिहास व ज्ञान–विज्ञान के बावजूद हम यह सुनिश्चित नहीं कर पायेंगे कि एक परिवार के नये बुनियादी आधार क्या होंगे? या जिस स्नेह व स्वतन्त्रता के हम आकांक्षी हैं उसके अनुरूप परिवार बना पाये हैं। परिवार में स्नेह व स्वतंत्रता के लिए स्पेस बने, ऐसी अर्थव्यवस्था गढ़ पायें हैं क्या? जो हमारे पारिवारिक प्रेम को पुष्ट करने के साथ सामाजिक जीवन को ईमानदार, जिम्मेदार बनाये। यदि हम पारिवारिक व्यवस्था को ही गैर जरूरी मानते हैं तो क्या हमारे पास इस सवाल का जवाब है कि व्यक्ति कहां टिकेगा? उसके मानवीय गुणों व प्रतिभा के विकास के लिए हमारे पास कौन सा वातावरण होगा? बच्चों के स्नेह, शिक्षा, स्वास्थ्य का दायित्व किसका होगा? यदि इन सवालों का जवाब नकारात्मक है तो हमें मनुष्य के रचनात्मक–सृजनात्मक विकास के लिए परिवार आधारित संस्कृति पर पुनर्विचार करना होगा।

इस संदर्भ में परिवार बनने की स्थितियों का अवलोकन सर्वप्रथम करना होगा। किसी भी परिवार की बुनियाद में स्त्री–पुरूष संबंध का सवाल प्राथमिक सवाल के रूप में सामने आता है। स्त्री को स्वतंत्र व्यक्तित्व–अस्तित्व के रूप में न स्वीकार कर पाने से परिवार की बुनियादी चूलें हिली हैं। हम पौराणिक काल के प्रथम स्त्री विद्रोह में इसकी झलक देख सकते हैं। पारिवारिक संबंधों के लिए आज्ञापालक राम जब अपनी पत्नी सीता से पवित्रता हेतु अग्निपरीक्षा की बात करते हैं। प्रथम बार में सीता इस परीक्षा को स्वीकार करती है लेकिन दूसरी बार पवित्रता की परीक्षा देने के संदर्भ में अस्वीकार कर देती है। यह कहते हुए कि अब धरती माता मुझे स्थान दे। यह परिवार संबंध में स्त्री का पुरुष वर्चस्व वाले समाज के प्रति पहला विद्रोह है। पुरूष के एकाधिकारवाद के खिलाफ विद्रोह। परिवार क्योंकि स्त्री व पुरूष का समन्वित स्नेह संबंध है जहां विश्वास व स्नेह की अनिवार्यता के साथ एक–दूसरे के व्यक्तित्व को स्वीकारते हुए उसे खिलने में सहयोग करना है। यह बिना बराबरी के संबंध के नहीं हो सकता। पारिवारिक संबंधों में अपने व्यक्तित्व को मुखर करने की यह पौराणिक कसौटी है। आज जब हम परिवार की बुनावट करना चाहेंगे तो तमाम और संदर्भों को भी ध्यान में रखकर देखना होगा। स्त्री को उसी नजर से देखकर यह संभव नहीं हो पायेगा।

तब दुनिया को देखने के लिए नये ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी। समता के सवाल को भी नये नजरिये से देखना होगा। कृषियुगीन सभ्यता का एक पक्ष यह भी है कि समाज के कुछ तबकों को शिक्षा व ज्ञान के अधिकार से वंचित किया गया और जो हिस्सा शिक्षा व ज्ञान से वंचित हो गया वह निर्णय प्रक्रिया व संपत्ति के अधिकार से भी वंचित हो गया। परिणामस्वरूप दोयम दर्जे की स्थिति बनी रही। स्त्री के साथ भी यह घटना घटी है लेकिन

उसके तमाम विद्रोहों के बाद आज ये स्थिति आ रही है कि संबंधों को पुनर्परिभाषित करना पड़ेगा। इसलिए पुराने ज्ञान को दैवीय संपदा मानकर टालमटोल न चलाकर नये परिदृश्य में चीजों को देखना होगा। अब ये कहने में हिचक होनी पड़ेगी कि, कुरान ईश्वर वाणी है, यह कहना पड़ेगा कि ईश्वरवाणी नहीं पैगम्बर मुहम्मद साहब ने कहा है। वेद, वैदिक वाणी है; ईश्वर वाणी है कहने से यह निश्चित हो जाता है कि ज्ञान पूरा हो गया है, अब कुछ खोजना बाकी नहीं रह गया है। ईश्वर ने हमें इतना निरीह नहीं बनाया है कि हम कुछ खोज ना सकें। स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार, "हर पीढ़ी को अपना ज्ञान आगे बढ़ाना है, जहाँ तक देख लिया गया है उससे आगे देखना हर नई पीढ़ी की जिम्मेदारी होती है।

इसलिए नई संस्कृति के लिए परिवार को बुनियादी इकाई मानकर नई अर्थव्यवस्था के साथ–साथ राजनीतिक संस्कृति में भी परिवर्तन लाना होगा। अर्थव्यवस्था ऐसी बने कि जीवन में अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बेईमानी का सहारा न लेना पड़े। यदि सार्वजनिक उपक्रम में रोजी–रोटी कमाना सुगम बात हो जायेगी तो ऐसा व्यक्ति अपने पारिवारिक संबंधों में स्नेह के साथ जी सकेगा। आर्थिक असुरक्षा नहीं होगी तो संबंधों में नकलीपन नहीं आयेगा।

स्त्री के संबंध में संकीर्ण धारणा व अर्थव्यवस्था के साथ–साथ परिवार की संस्कृति बनने में भारतीय समाज में जो बाधक तत्व है, वह है 'जाति'। इसके तहत हर जाति अपने जातिगत पहचान–अभिमान को बनाये रखने के लिए अपनी ही जाति में संबंध जोड़ने को आतुर रहती है। इस कारण अपने मानदंड को बनाये रखने के लिए समाज में जो संघर्ष करना होता है उसे भोगते हैं। बचपन से ही बच्चों के दिमाग जातीय आधारों पर इतने संकुचित हो जाते हैं कि बड़े होते–होते कुंठा मनों में घर कर जाती है। दहेज का व्यापक प्रचार भी इसी संकुचित व्यवस्था की देन है। इस संदर्भ में भी विवेकानंद जी के अनुसार अपना ज्ञान बढ़ाने की आवश्यकता है कि अपनी ही जाति में संबंध जोड़ने का दबाव हमारे अन्दर स्नेह की मात्रा बढ़ाता है या घटाता है? ऐसा संकुचित प्रेम क्या किसी स्वस्थ पारिवारिक व्यवस्था या संस्कृति को जन्म दे सकता है जो किसी जाति विशेष में ही प्रेम संबंध की इजाजत देता है। इससे अंततः हम एक अस्वस्थ पारिवारिक व्यवस्था गढ़ते हैं। इस पर उदार दृष्टिकोण अपनाकर हम एक स्वस्थ परिवार व्यवस्था के साथ, स्वस्थ समाज की नींव भी रख पायेंगे। साथ ही संकुचित मानसिकता से बाहर आकर निरंहकारी होने का जो लक्ष्य पूर्वजों ने हमें दिया है, व्यावहारिक रूप से उस तरफ भी बढ़ पायेंगे। तब हमें 'डिजिटल इण्डिया' के साथ यह भी सोचना पड़ेगा कि नैटवर्क बढ़ाने के नाम पर हमारे परस्पर संबंध, संपर्क व सामाजिकता पर क्या असर पड़ रहा है।

अभी कुछ दिनों पहले कौसानी में युवा व्यक्तित्व निर्माण की कार्यशाला में था। वहां गांधी के विषय पर चर्चा छिड़ी तो 2–3 युवा साथी बोले की गांधी तो देश विभाजक आदमी थे। नाथूराम गोड़से देशभक्त था। हमने पूछा कि किस पुस्तक में पढ़ा यह। तो बोले कि फेसबुक पर लिखा है और बाद में जब वे साथी थोड़ा खुलकर बात करने लगे तो पता चला कि कितने तरह की गलत जानकारियां परोसी जा रही हैं। अब एक परिवार के

लोग भी आपस में 'चैट' करके बातचीत करते हैं। यह 'चैट' इतना मंहगा पड़ रहा है कि पारिवारिक संबंधों को 'चीट' (धोखे) तक पहुंचा रहा है। सीधे संपर्क व संवाद की जगह इलेक्ट्रानिक उपकरणों द्वारा संपर्क एक 'आभासी' दुनिया में पहुंचाता है। माया यह है कि हमको लगता है हमारे सारी दुनिया से संपर्क हैं – संबंध हैं लेकिन परिवार व पड़ोस हमसे दूर होता जा रहा है। जिससे परिवार व 'घर' की जीवंत संबंधों की दुनिया को धक्का पहुंचा है। रवीन्द्रनाथ टैगोर जी कहा करते थे "मेरा, घर मेरा यक्ष मंदिर, पूजा स्थान–अतिथिगृह और सुरक्षा का प्रेममय किला सब कुछ है, इसे ही तो घर कहते हैं।" क्या ऐसा घर हमारा 'डिजिटल इण्डिया' का सपना देख रहे लोगों के मानस में कहीं है जो भारतीय संस्कृति के वाहक भी खुद को मानते हैं। क्या 'डिजिटल इण्डिया' में ऐसे घर के लिए कोई स्थान होगा? माध्यम केवल माध्यम नहीं होता अपने साथ अपनी प्रवृत्ति भी लेकर चलता है।

हम 'डिजिटल होंगे ही'; 'स्मार्ट सिटीज' बनायेंगे ही लेकिन इसमें हमेशा दूसरों के पीछे रहेंगे क्योंकि इनमें हमारी महारत हासिल नहीं है इसलिए नकल करते आये हैं और नकल करते रहेंगे। कोई भी नई चीज दिखती है तो हम चौंधिया जाते हैं, गुलामी का संस्कार अभी गया नहीं है। मैंने सुना है चीन में भी कई स्मार्ट सिटीज बनी हैं। बन तो गयी पर खरीदने वालों के अभाव में खाली पड़ी हैं और खाली पड़ी हैं तो लोग उनको 'पोस्ट सिटीज' (भुतहा शहर) कहते हैं। हमको तो ये सब बनाना भी नहीं आता। इसको बनाने में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का ही फायदा होगा इसलिए वे ऐसी योजनाओं को प्रोत्साहित करेंगे। इन शहरों में रहने वाले लोग कैसे होंगे, हिन्दुस्तान के संदर्भ में हमें बनने का इंतजार करना होगा। मनुष्य की आजादी व स्नेहाकांक्षा का इस सबके बीच स्थान कहां होगा, हमें इसकी भी प्रतीक्षा है।

लेकिन यहाँ हम एक तथ्य का उद्घाटन करना चाहते हैं कि हमारे देश की ताकत, इसकी महारत एक ऐसा सांस्कृतिक परिवेश तैयार करने की है जो 'स्मार्ट बिल्डिंग' भले ही न बना पाये पर 'स्मार्ट मनुष्य' जरूर गढ़ सकता है। सदियों से यह देश ऐसे लोगों को गढ़ता आया है। आज जब हम मानवीय मूल्यों में ह्रास की दुहाई दे रहे हैं तब भी हमारे पास एक साबंधिक पारिवारिक व्यवस्था का चरमराया ही सही, पर ढाँचा मौजूद है जिसकी अनावश्यक बुराइयों को खत्म कर उसे जीवंत बनाया जा सकता है। फिर जब हम इस स्मार्ट घर स्मार्ट प्रकृति में रहने योग्य खुद को बना लेते हैं तो 'स्मार्ट सिटीज' व 'स्मार्ट ब्रह्मांड' में भी रह सकते हैं क्योंकि तब इनकी परिकल्पना आयातित न होकर हमारे सांस्कृतिक जरूरतों–आधारों से निकली होंगी। इसके लिए धैर्य की आवश्यकता है। यह धैर्य भी उसी सांस्कृतिक व्यवस्था से आयेगा और हम वाकई नये भारत को गढ़ने के लिए अपने सांस्कृतिक परिवेश के अनुकूल पारिवारिक–सामाजिक–आर्थिक व राजनैतिक व्यवस्थाओं में संभव बदलाव की दिशा में कार्य कर रहे होंगे। आज से 2500 साल पहले गौतम बुद्ध ने कहा कि, किसी बात पर इसलिए विश्वास न करो कि फलाने ने कहा है, फलानी जगह लिखा है। बल्कि उस बात पर विश्वास करो जो विवेकपूर्ण तो हो ही, साथ–साथ सबके लिए कल्याणकारी हो। नई संस्कृति की राह इन्हीं प्रक्रियाओं से प्रशस्त होगी।

# iqLrd leh{kk & johUnz dqekj ikBd }kjk

मुझे सेडेड दिल्ली की ओर से श्री गोपाल राम जी द्वारा लिखी पुस्तक एक गरीब की विनम्र चुनौती' पढ़ने एवं उसकी समीक्षा लिखने को दी गयी । नाम से ही स्पष्ट है कि लेखक चुनौती देने को तत्पर है तो सावधान होकर पढ़ना होगा ।

लेखक आज की प्रचलित लीक से कुछ अलग लग रहा है। अभिव्यक्ति तथा वाक्य सरंचना की सहजता के बावजूद प्रचलित पारिभाषिक शब्दों और बिंबों का प्रयोग यह बताता है कि 'सिद्ध' से जुड़े लोगों एवं अन्य बुद्धिजीवियों से लेखक ने पर्याप्त प्रचलित शब्द लिये हैं, जो तकनीकी किस्म के हैं; साथ ही भिन्नार्थक और अनिश्चयार्थक भी। भारी भरकम शब्दों के इसी चरित्र के आधार पर तो वाक् जाल का खेल होता है। सामाजिक समझ एवं अनुभव के बावजूद लेखक इस बात पर सावधान नहीं है या शायद उसे इस खेल की जानकारी नहीं है। 'लेख परिचय' शीर्षक से लेखक ने एक छोटी फिर भी सावधान भूमिका लिखी है। इन पृष्ठों से ही लगभग 80 प्रतिशत बातें स्पष्ट हो जाती हैं। शेषतः कथा एवं घटनाओं का संयोजन है।

आरंभ के इन पृष्ठों में लेखक ने जो मापदंड प्रस्तुत किये हैं वे पाठक को सावधान करते हैं और यदि पहले ही समीक्षा का मन बना हो तो सहज जिज्ञासा हो जाती है कि लेखक के द्वारा प्रस्तुत/प्रस्तावित पैमानों पर उसकी अभिव्यक्ति प्रस्तुति या लेखन कितना सटीक बैठता है।

भले ही लेखक की औपचारिक शिक्षा नहीं हुई है लेकिन भाषा, उसकी मर्यादा और मर्यादित सरल (पदावलियों) में लेखक दलित तथा गरीब लोगों की बातों को पूरी बुलंदी के साथ रखने में सफल है। अनावश्यक उत्तेजना, लांछना तथा प्रतिशोध की जगह सामाजिक समग्रता का पूरा सम्मान रखते हुए, अनेक उलझी बातों के लिए किसी व्यक्ति या समूह को जिम्मेदार नहीं ठहराते हुए भारतीय समाज में व्याप्त रुढ़ियों, वर्जनाओं, विभ्रमों एवं नीयत को पुनर्विचार एवं समीक्षा को चुनौती देता है।

लेखक ने अपने परिचय के दौरान कई पैमाने प्रस्तुत किये हैं, उनमें से कुछ पर गौर किया जा सकता है लेखक का पहला कटाक्ष तो लेखन के पेशेवर होने पर है मानों वह न कुछ खोजता, न पाता है बल्कि अपने पेशे की मजबूरी या लालच में लेखन करता है। इसके विपरीत लेखक का अपना भोध कार्य जारी है। बात इतनी भी नहीं, उसे अंतिम निष्कर्ष या स्थापित जैसी बातों से भी आशंका है इसलिये वह स्पष्ट शब्दों में सावधानी से

कहता है कि निष्कर्ष एवं सोच में बदलाव भी हो सकता है।

दलित समाज की समस्या पहचान के साथ जुड़ी हुई है। दलित और गरीब दोनों की सम्मिलित पहचान के साथ अनपढ़, अस्पृश्य आदि पहचान कैसे एक दलित बालक की तर्क चेतना को उद्वेलित करती है, इसे लेखक ने सीधी भाषा में घटना और अनुभूति के माध्यम से व्यक्त किया है। लेखक ने मोटे तौर पर ठीक ही समझा है कि सकारात्मक या नकारात्मक, छोटे या बड़े दायरे वाली पहचान मूलतः भावना या संपत्ति पर आधारित होती है। यहीं पर लेखक पहचान की जटिल प्रक्रियाओं से भाायद अनजान होने के कारण उनकी खोज में लगा हुआ है।

लेखक का द्वन्द्व जारी है। वह परिस्थितियों से उत्पन्न विवशता और उस विवशता से बाहर निकलने की कोशिश को स्वीकार करता है और रास्तों की उसकी तलाश जारी है।

कभी–कभी अति नैतिकता के प्रभाव से या पता नहीं किस तटस्थ भावना से अपने को लेखक की जिम्मेदारी से मुक्त करते हुए (अभिव्यक्तिकर्ता मात्र) कहने लगता है । ऐसे कई मामलों में समाज की उपेक्षा ही नहीं, उससे बहुत बुरी तिरस्कार भावना से आहत लेखक का मन उदास भाव से कहता है कि 'मेरी न सामाजिक–राजनैतिक हैसियत है, न मैं राजनैतिक व्यक्ति हूं।'

बाजारवाद की विडंबना, सामग्री एवं व्यक्ति के मूल स्वरूप एवं पहचान को ही बरबाद कर देने के षडयंत्र आदि अनेक बातों की चर्चा सरल ढ़ंग से लेखक ने की है। गांधी जी से संबधित मामलों में अभिव्यक्ति उतनी तगड़ी नहीं है। गांधी जी का व्यक्तित्व भी है ही ऐसा। जिस प्रायश्चित्त बोध की लेखक अपेक्षा रखता है, वह इतिहास में दिखता नहीं है। गलती का अहसास होना और आगे गलती करने से अलग होना, व्यापक तौर पर इतना भी कम नहीं है। गांधी जी ने अगले जन्म में भंगी होने की बात भले ही की हो, जब भंगी को भंगीपन के अहसास एवं बंधन से आजाद कर एक नागरिक के रूप में सम्मानित करने की बात को उचित माना जाएगा तो फिर नये भंगी बनाने को सही नहीं माना जा सकता। आज बाजारवादी मजबूरियों में ही सही; मिथक टूटे हैं और ब्राह्मण भी काफी संख्या में उनके ही द्वारा नीचे घोषित कामों में लगे हुए हैं। ऐसी गहन उदासी के बावजूद लेखक आशावादी है और अहिंसक राजनीति के माध्यम से समाज तथा व्यवस्था में परिवर्तन चाहता है और इसी मकसद से तो लेखक ने यह किताब लिखी है ।

लेखक को सरकारी तंत्र, राजनीतिक व्यवस्था, बहुदलीय लोकतंत्र उसके झूठे वादों, चोंचलेबाजी, प्रशासन में अंग्रेजी विरासत का प्रभाव, आमजन के प्रति अफसरों की हिकारत एवं तुच्छता के भाव का तो पता ही है, जहाँ–तहाँ बाजारवादी व्यवस्था की विसंगतियों की भी लेखक ने उसमें चर्चा की है। उपर्युक्त बातों की समझ के साथ लेखक ने आजादी के बाद अपेक्षित बदलाव न होने पर भी सवाल खड़े किए हैं कि अब नौकरशाहों को क्या डर? लेखक भाायद इस व्यवस्था की विसंगतियों के अन्य कारणों से परिचित नहीं है या विवाद से बचने के लिए उस ओर जाना नहीं चाहता।

भाषाई अस्मिता के प्रश्न, स्त्री अस्मिता के प्रश्न, स्त्री की उपेक्षा से परिवार पर संकट आदि अनेक समसामयिक बातों को सहज समझने लायक भौली में लेखक ने प्रस्तुत किया है। लेखक ने अपनी शिक्षा के बारे में जानकारी दी है, उसके आधार पर शास्त्रीय बातों की प्रमाणिक जानकारी की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। चूंकि उसने गीता को उद्धृत किया है किंतु किस गीता की बात है यह नहीं बताया है। यदि सर्वाधिक प्रचलित कृष्ण—अर्जुन संवाद रूप में 18 अध्यायों वाली गीता को लें, तो मुझे गीता में ऐसा विवरण ध्यान में नहीं आ रहा ..... "उससे उसका सब कुछ छीन लिया गया है...आंतरिक स्वराज प्राप्त कर लिया है"।

लेखक को सांस्कृतिक वर्चस्व के पेंचों का सामान्य अंदाज भर है लेकिन कोशिश तह तक जाने की है। अतीत के मामलों में भले उससे चूक हो जाय लेकिन वह वर्तमान की चुनौतियों से परिचत है। अतरू धार्मिक कर्मकांड, पूजा—पाठ पर टिप्पणी तो करता है लेकिन प्रार्थना की अवधारणा पर नहीं कि यदि भगवान ही नहीं है, वह तो लोगों के द्वारा गढ़ी गई अवधारणा मात्र है, तो प्रार्थना भी क्यों ? पता नहीं प्रार्थना से लेखक का क्या अभिप्राय है?

इसमें लेखक का क्या दोष? कर्मकांड एवं उसके घटक मंत्र, स्तुति, प्रार्थना, पूजा विधि या पूजा की सामग्री, इन सबकी समझ पूजा करने—कराने वाले को ही न हो और इसका उपयोग समाज में वर्चस्व घृणा फैलाने के लिये हो, तो प्रतिक्रिया भी ऐसी होगी ।

दुनिया के अन्य लोगों की तरह लेखक भी कुछ फँसा हुआ है। कुछ और फँसने की आशंका है। साइंस—टेक्नोलॉजी तथा बाजारवाद आधारित जीवन, जिसमें मानवीय संबंधो के लिये न्यूनतम स्थान, उसकी विभीषिका और अति यंत्रीकरण के दुष्प्रभावों से भी वह परिचित है। लिहाजा दुविधा तो घेरेगी ही और अंततरू समाधान की दृष्टि से वह प्रसिद्ध संत रैदास में आध्यात्मिक तुष्टि—तृप्ति की संभावना तथा समता का संघर्ष देखता है। उसे न संस्कृति रास आ रही है, न अप संस्कृति, तो करें क्या ? अतरू अपने सपनों की नई संस्कृति का प्रस्ताव रखता है। यहाँ तक की टिप्पणियाँ मैंने आधुनिक शिक्षावाली समझ से की है। चूँकि मैं परंपरागत विद्या वाला आदमी हूँ और मुझसे अपेक्षा की गई है, उस दृष्टि से भी समीक्षा करूँ क्योंकि लेखक भी पूर्णतः परंपराविरोधी न होकर उसकी जड़ता तथा दुष्प्रभाव का विरोधी है। इस दृष्टि से मुझे लगता है कि अन्य शिक्षित लोगों की तरह लेखक भी सरलीकरण की राह पकड़ना चाहता है, जैसा ब्रिटिश काल के भारतीय सुधारवादियों ने किया था।

लेखक ने अपनी आरंभिक पाठशाला 'सिद्ध' ";पकीद्ध के अंगरेजी अर्थ को लिया है, देशी अर्थ लेता तो उसे सिद्धों की पूरी विरासत को जानने में रुचि जगती, जिसकी अगली कड़ी में रैदास भी आते हैं। कबीर और रैदास में जमीन—आसमान का अंतर है। जन्म संयोग से नहीं, भाव से यह लेखक रैदास के करीब लगता है। रैदास की योग्यता मीरा के गुरू बनने की है, कबीर के घर तो 'कमाल' ही पैदा हो सकता है, उनसे भी अधिक रहस्यवादी। इनकी बातें किसे समझ में आती हैं?

समीक्षक का काम परामर्श देना नहीं होता फिर भी मंगल कामना तो कर ही सकता

है, दुआ दे सकता है कि लेखक को जब लगता है कि 'आर्थिक गरीबी' 'प्रशासनिक गरीबी' और 'सांस्कृतिक गरीबी', तीनों की पीड़ाएं समाज के विभिन्न वर्गों को भिन्न–भिन्न रूप में सताती हैं वह तीनों से मुक्त हो जाये, समाज को भी रास्ता बताए। वह कबीर के रहस्यवादी मार्ग की जगह रैदास के भक्ति पंथ पर चले तभी उसके गुरू बनने का सपना पूरा हो सकेगा। लेखक आज भी शिक्षक के रूप में गुरुपद पर प्रतिष्ठित है। कर्मकांड तो रहेंगे, न कभी पूरी तरह हटे, न हटेंगे। अध्यात्म के मुक्ति मार्ग और भौतिक गरीबी को हटाने वाले हों, बढ़ाने वाले नहीं, बस इतनी ही सावधानी जरूरी है।

लेखक ने केवल दलित समाज की समस्याओं की चर्चा नहीं की है। उदाहरण के लिये उसने बिना पेंशन पाए मरने वाले रिटायर्ड लोगों पर भी ध्यान दिया है। एक खूबसूरत उदाहरण के रूप में वह एक भलमानस बस ड्राइवर और कंडक्टर द्वारा चालित बस के सवार की तरह प्रशासन का लाभ लेना चाहता है, वह भी सम्मानजनक ढंग से। सम्मान की चाह पहचान की चाह से थोड़ी भिन्न होती है। सम्मान तो सबको चाहिये ही। इसी समर्थक मामले में लेखक अन्य दलित समर्थक लेखकों से भिन्न है कि वह देश–दुनिया की हर समस्या में अलग से या केवल–केवल दलित उत्पीड़न का पक्ष नहीं ढूंढता रहता। वह स्वयं भी किसी भ्रम में नहीं है और दूसरे को भ्रम में रखना नहीं चाहता है–मानों जन्मना, दलित के साथ ही अत्याचार, शोषण हिकारत की समस्या है और बाकी के लोग तो बस केवल मौज–मस्ती में हैं।

लेखक ने कुछ नये बिंब प्रस्तुत किये हैं, जैसे 'धार्मिक गरीबी' 'बस–कंडक्टर' संबंध आदि। 'प्रशासनिक गरीबी' 'अतिरिक्त भाासनकर्ता' 'गरीब जनगामी'। कई तकनीकी एवं विवादग्रस्त क्षेत्रों पर भी मंतव्य दिया है जैसे– भारतीय काल गणना, प्लासी की हार, उसका प्रभाव आदि। इनके बारे में कुछ कहे बिना भी वह अपनी बात कह सकता था। अतः ऐसे मामलों में उसकी बात को उतनी आसानी से नहीं माना जा सकता, जैसी सरलता एवं सुविधा अन्य मामलों की प्रस्तुति में है।

मैं दो बार में पूरी पुस्तक पढ़ गया। बातें स्पष्ट रूप से रखी गयी हैं। लेखक की अपनी जिन्दगी और आस–पास की घटनाएं लेखक के लिये भी चुनौती हैं और उस क्रम में जो प्रश्न उठाए गये हैं, वे व्यवस्था के सामने चुनौती हैं। भाषा एवं प्रस्तुति वस्तुतः विनम्र है अतः नाम पूरी तरह सार्थक है। कुल मिलाकर एक संवेदनशील व्यक्ति की सरल प्रस्तुति है, जिसे पढ़ने में और मानने में न पराक्रम है, न पीड़ा।

# ^fl) ls vc rd % ,d vuojr lQj

1999 का साल। हमारे वहाँ (बेरीनाग, पिथौरागढ़) के एक सर्वोदयी संस्थान, जिसमें मेरी बड़ी बहन कार्यरत थी, से पता चला कि मसूरी में 'सिद्ध' नामक एक संस्था है, जहां युवाओं के लिए 'संजीवनी' नाम से एक कार्यक्रम शुरू हो रहा है, जो अन्य जगहों से अलग है, कुछ नया है। मेरी बहन, 'सिद्ध' द्वारा उक्त संस्थान को भेजा गया एक चार्ट भी लेकर आयी थी। जिसमें बहुत सारे कार्यक्रमों—कामों को चित्रों के माध्यम से दर्शाया गया था। बहन ने हल्के लहज़े में कहा कि क्या तू जाना चाहता है? बस इतना कहने की देर थी कि मैंने कहा, मुझे अब यहीं जाना है। फिर घरवालों को जब लगा कि यह सचमुच चला जायेगा तो कई तरह से समझाने की कोशिश की। असल में हमारे घर से इतनी दूर पहले कोई गया नहीं था। इसलिए तरह—तरह के डर व आशंकायें थीं कि कहां जायेगा, कैसे रहेगा, वहां क्या करेगा इत्यादि। पर मेरी जिद के सामने आखिरकार सभी ने हार मान ली। बहन ने जाने का बंदोबस्त किया। कुछ पैसे भी जुटाए। घबराया तो मैं भी था कि कहां होगी वो जगह, कैसे लोग होंगे। ये सब चल ही रहा था। लेकिन जाना जरूर है इस बात ने सब कुछ दबाकर रखा हुआ था। इतनी दूर का मेरा भी पहला सफर था। इसीलिए मैं आवश्यकता से ज्यादा सतर्क व सजग था। बाकी रास्ते भर बीते समय की तस्वीरों—स्मृतियों में खोया रहा। इससे सफर आसान हो गया।

घर—समाज के सारे चित्र अंतस में घूमने लगे। वो माँ—पिता याद आये जिन्होंने कभी तथाकथित शिक्षा (स्कूल शिक्षा) ग्रहण नहीं की थी, लेकिन कितनी मजबूती के साथ हम सबको ईमानदारी के साथ जीना सिखाया। दूसरा व्यक्ति चाहे वह उम्र में छोटा ही क्यों न हो उसके साथ इज्जत के साथ पेश आना व तमाम संघर्षों के बाद भी अपनी बनाई छोटी सी दुनिया में खुश रहना उनसे सीखा। आस—पास का वातावरण व समाज याद आया जहाँ काम के समय जितना महत्व दिया था, उससे भी ज्यादा भोजन के समय, पानी पीते समय तिरस्कार की नजर से देखा जाता था। जहाँ एक तरफ परस्पर सहयोग भी है पर कहीं खुद को बड़ा व अन्य को 'अछूत' मानने का संस्कार भी है। इस विरोधाभास पर भी मैं आश्र्यचकित हुआ था। योग्यता होने के बाद भी समाज की ऐसी व्यवस्था में अपनी सीमाओं को देखकर मन खिन्न हो जाया करता और लगता था कि ईश्वर ने हम पर कितना अत्याचार किया है। या हमने पूर्वजन्म में कोई ऐसे कर्म कर दिए होंगे, जिसका फल इस रूप में भुगतना पड़ रहा है। आखिर खुद को किसी तरह समझाना होता है।

मुझे याद नहीं कि अपनी छोटी सी स्कूली जिन्दगी में मैंने कभी तथाकथित बड़ा

आदमी बनने व पैसे कमाने की कल्पना की हो या सपना देखा हो। मेरे लिए यह प्रश्न ही नहीं था, बावजूद इसके कि हमारी पारिवारिक आर्थिक स्थिति को अच्छा नहीं कहा जा सकता था। लेकिन खाने–पीने की कभी कमी नहीं रही। माँ व पिताजी के काम के बदले अनाज की रीति से यह आपूर्ति होती रही। अपनी जमीन न होते हुए भी अनाज का जुट जाना हमारे लिए सुखद बात रही। इससे ज्यादा पाने के, होने के, हमने कभी सपने नहीं पाले। बस, लगता था कि काम चल रहा है बाकी हबड़–तबड़ क्यों करनी है? क्या मिल जायेगा उससे? लेकिन कभी–कभी लोगों का, दोस्तों का, व्यवहार दुखी करता था। दूसरे समाज के छोटे बच्चे भी जब पिताजी–माँ इत्यादि को नाम लेकर पुकारते तो मन अंदर तक टीस से भर जाता था। अपनी कुछ न कर पाने की विवशता के कारण खुद पर ही गुस्सा आता था। इन सबके साथ खेलते–जूझते हुए भी मेरी अपनी एक अलग दुनिया थी। कई बार मैं एकदम चुप हो जाया करता था जिससे घरवालों व दोस्तों को भी अटपटा लगता। घर के बाहर, घास के मैदान के छोर में, पत्थर पर बैठकर मैं पूर्व दिशा में स्थित पहाड़ की चोटी को देखता रहता था और यह सोचता था कि क्या दुनिया इस पहाड़ पर खत्म हो जाती है या उसके आगे भी होगी। इसके बाद दूसरा पहाड़, फिर अन्य पहाड़। यह सिलसिला कहीं खत्म भी होता होगा कि बस हो गया। अब यह दुनिया यहीं पर खत्म हो गयी। क्या इसके बाद कुछ नहीं है? मैं इसमें रहते–रहते थक जाता तो एक गहरी उदासी व खामोशी मुझे घेर लेती थी। उसके बाद मैं चाहते हुए भी किसी से कुछ बोल नहीं पाता था। घर वाले व दोस्त बस इतना ही कह पाते कि क्या हो गया तुझे? ये उनकी पूछने की सीमा थी। और मेरे जवाब देने की सीमा भी यही थी। क्या कहता। मेरी इसी दुनिया ने मुझे बाहरी समाज से हो रहे व्यक्तिगत व पारिवारिक तिरस्कार को कुछ हद तक सहन करने की योग्यता प्रदान की। मुझे लगता था कि कुछ है जो पता नहीं चल पा रहा है। पर, कुछ जरुर है जो आसपास वालों को भी पता नहीं। इससे मेरा ध्यान कई स्थूल चीजों की तरफ जाना स्वतः ही कम हो गया। मैं जानना चाहता था कि ये दुनिया कितनी बड़ी है? कहाँ खत्म होती है और कहाँ शुरू होती है, और क्यों हमारे जैसे प्राणी भी इस दुनिया में हैं? हमारे होने का मतलब क्या खा–पीकर मर जाना है; लेकिन मेरा मन नहीं मानता था? लगता कि यदि खा–पीकर मर जाना भी है तो फिर क्यों नहीं ठीक से खा–पी ही लेते। इतनी हाय–तवाई क्यों मचाई हुयी है। क्या करना है इस जीवन का? क्या हमको किसी ने कुछ तय करके भेजा है या खुद ही सब कुछ करना है? मैं अस्पष्ट था ये सब बातें चित्र–कथा की तरह कुछ धुंधली और कुछ अस्पष्ट मन में चलती रही।

रास्ते का अंजान सफर। अजनबी लोगों की तरफ बहुत ध्यान नहीं गया। बस रास्ते भर अपने सामान की चिंता जरुर हुई। मैंने मन तो पक्का बना ही लिया था कि सिद्ध तो जाना ही है। क्या पता कुछ काम ही मिल जाये। वहां नहीं रहने देंगे तो फिर चला जाऊंगा कहीं भी। लेकिन वापस घर लौटने का विकल्प छोड़ दिया था। आखिरकार मसूरी 'सिद्ध' पहुँच ही गया। जाकर पता चला कि 'संजीवनी' एक साल का कोर्स है। कोर्स में क्या होगा, ये पता नहीं था। साक्षात्कार के दौरान मुझसे पूछा गया कि संयुक्त परिवार से हो कि एकल। मैं जल्दीबाजी में संयुक्त बोल गया या एकल। फिर घर–परिवार के काम–धंधे, खेती–बाड़ी

व आर्थिक स्थिति के बारे में भी पूछा गया। अंत में फीस कितना दे सकते हो? मैंने अपनी पारिवारिक स्थिति को ध्यान में रखकर कहा कि कम ही दे पाऊंगा। क्योंकि जाते समय भी किसी तरह व्यवस्था करके गया था। फिर विषयगत योग्यता व कल्पना शक्ति की जांच के लिए लिखित परीक्षण भी किया गया। गणित की परीक्षा में एक प्रश्न को देखकर मैं चौका। वह प्रश्न था कि 5 गधे और 5 घोड़े जोड़कर कितना होता है? पांच और पांच जोड़कर तो दस होता है, पर गधे या घोड़े  यह वाकई मजेदार सवाल था। पहली बार लगा था कि गणित ऐसी भी हो सकती है लिखित परीक्षण ठीक–ठाक होने के बावजूद मुझे यह उम्मीद नहीं थी कि मुझे इस कार्यक्रम में रहने का अवसर मिल पाएगा। दूसरी सुबह संस्थान के ही एक साथी ने कहा कि सामान पैक कर लिया तो मेरी शंका पुख्ता हो गयी। रही–सही उम्मीद भी इससे खत्म हो गयी। मैंने कमरे में जाकर सामान पैक किया और किसी अज्ञात यात्रा की तरफ जाने के बारे में कल्पना करने लगा। बहुत सोचने के बाद ये मन बनाया कि पैसे की भी सीमा है, इसीलिए पैदल ही चल पडूँगा। कहीं तो पहुंचूंगा ही। मेरे प्रश्न का उत्तर मुझे मिल गया था। अब मैं इस निश्चय के साथ ही अज्ञात दिशा में पैदल ही निकलूंगा। निश्िंचत हो गया और मन से हल्का हो गया। जब सेंटर पर नाश्ता किया तो मैं वापसी की पूरी तैयारी में था। तभी नाश्ते के बाद रसोईघर से बाहर निकलकर फिर वही साथी मिले और हँसते हुए बोले कि तुम्हारा सलैक्शन हो गया है, तुम्हें यहीं रहना है। मुझे इस अनिश्चिता पर आश्चर्य हुआ। और लगा कि जीवन का  कितना हिस्सा है जो अज्ञात है और हमारे हाथ में कुछ नहीं है। कुछ पलों पहले मैं वापसी के बारे में सोच रहा था। कुछ क्षणों बाद अब यहाँ रहने का मन बनाने लगा। मन ही मन खुद पर हँसी आ गई। परिस्थितियों को खुले मन से स्वीकार किया उस समय।

'संजीवनी' कार्यक्रम शुरू हुआ, यह युवाओं में एक व्यापक दृष्टि व मौलिक सोच विकसित  करने का कार्यक्रम था ताकि वे आत्मविश्वास के साथ जी सकें व समाज में अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह कर सकें। वैकल्पिक शिक्षण की बात होने के कारण इसके कार्यक्रम भी बिलकुल जुदा थे। कार्यक्रम की शुरूआत के पहले दिन सभी साथियों को समूह बनाकर अलग–अलग कामों की जिम्मेदारी दी गई। मुझे और एक अन्य साथी को बाथरूम की सफाई के लिए कहा गया। हम दोनों ने ब्रश और हार्पिक पकड़ा और पांच मिनट में केवल सीट की सफाई करके वापस आ गए। तभी सिद्ध संस्थान के संचालक आदरणीय पवन जी आये और उन्होंने कहा "हो गई सफाई" हमने हाँ में जवाब दिया। वे बोले चलो देखते हैं। उन्होंने देखा और चुपचाप झाडू उठाकर शौचालय की दीवारों व कोने पर लगे जाले इत्यादि को निकालने लगे व कोनों में पानी डालकर उसे धोया। हम लोग मूर्तिवत खड़े रह गये। ये सब करने के पश्चात् बोले सफाई करना इतना ही नहीं होता है कि हमारी नजर एक ही जगह पर रहे। अपनी दृष्टि सब जगह रहेगी तो चीजें ठीक से दिखाई देंगी। ये पवन जी से मेरा पहला साक्षात्कार था इससे मन में एक अलग सी भावना जगी कि यहाँ के लोग अभी तक के देखे लोगों से भिन्न हैं। मैंने इतने वरिष्ठ व्यक्ति को बाथरूम साफ करते हुए अभी तक नहीं देखा था। यह भी लगा था कि ऐसा हो सकता है। तब ऐसा अहसास हुआ था कि यहाँ कुछ अलग है। इसको ठीक से समझना

होगा। उनके प्रति मन में एक आस्था भी जगी थी कि यह व्यक्ति प्रचलित व्यक्तियों जैसा नहीं लगता, कुछ अलग है।

उनकी कही हुई बात कि दृष्टि सब जगह रखनी होती है, जब ध्यान दोगे तो दिखाई देगा। ये बात मैं आज तक नहीं भूला हूँ। और ये लगता रहा है कि दृष्टि जितनी व्यापक होगी, जीना उतना ही सहज होता जायेगा। अन्यथा टुकड़ों में देखने से दिमागी विभाजन व कठघरे बन जाते हैं, जिनके बाहर सोचना मुश्किल हो जाता है। इसी क्रम में एक बार हमको बिना पैसे इत्यादि के दो–तीन युवाओं के समूहों में अलग–अलग गांवों में भेज दिया गया और कहा गया कि खाना–रहना गांव में ही करना है और दस दिन बाद वापस आना है। हम लोग गये। मैं यकीन के साथ कह सकता हूं कि वे दिन हमारी जीवन यात्रा के अनूठे पल थे। अंजान जगह पर लोगो से मांगकर खाना उन्हीं के घरों में परिवार के सदस्यों की तरह रहना। तब लगा था कि यह हमारे देश में ही संभव है। घटनायें और भी हैं। जो जीवन की किसी दिशा में स्पष्टता का संकेत करके गयी। पूरे वर्ष देश भर व बाहर से भी अनेक लोग देखने आये कि, "सिद्ध" में युवाओं के लिए एक नया शिक्षण कार्यक्रम चल रहा है। उनसे मिलकर, सुनकर अनुभवों में समृद्धि हुई। अनुराधा दीदी के सरल व सहज व्यक्तित्व से कभी ये अहसास नहीं होने पाया कि हम घर से दूर हैं। आज भी जब हम उनसे मिलते हैं तो ये लगता है कि अपने घर के अभिभावक से मिल रहे हैं। ऐसी आत्मीयता का अहसास होता है। एक और बात जो मैंने अनुराधा दीदी से सीखी कि व्यवस्थाओं की जकड़न व उससे मुक्ति का मार्ग खोजने में कलायें महत्वपूर्ण भूमिकायें अदा कर सकती हैं। उनके सान्निध्य में संगीत सीखा। उनके द्वारा लिखित नाटक "विधाता सो गया" से मैं इतना प्रेरित हुआ कि गांधी जी द्वारा लिखित पुस्तक 'हिन्द स्वराज' पर एक गीत नाटिका लिख पाया। मुझे लगा कि ऐसी रचनाएं की जा सकती हैं जो वास्तविकता को अभिव्यक्त करें, उनमें बदलाव व जीने की प्रेरणा हो। कला का रस व आनंद हो। पर अभिव्यक्ति के नाम पर कला का भोंडा व निरुद्देश्य प्रदर्शन न हो। तब एक समझदार व्यक्ति ही कलाकार हो सकता है। एक कलाकार व्यक्ति समझदार भी हो ये जरूरी नहीं। बेहतर कला के लिए बेहतरी की तरफ बढ़ते इन्सान की आवश्यकता है अन्यथा आज की कला से हम परिचित हैं ही।

दीदी के इस सान्निध्य के साथ ही जीतेन्द्र जी, जगमोहन जी, शोभन भाई व सिद्ध की पूरी टीमः ने पूरे समर्पण के साथ 'सिद्ध' की वैचारिक–शैक्षणिक मुहिम को चलाया। सहज ही नए ढंग से चीजों को देखने समझने की प्रेरणा दी। यहाँ कभी ये महसूस नहीं हुआ कि समाजों के बीच का विभाजन दिखाई पड़ता हो। सभी समाजों से आये साथियों को समानता के भाव से देखने का जो संस्कार सिद्ध में विकसित हुआ है, वह वाकई एक बड़ी उपलब्धि रही। इसी कार्यक्रम के दौरान अलग– अलग सामाजिक कर्म व व्यक्तियों से संबंधित साहित्य का भी अध्ययन करने का अवसर मिला। और गांधी विचार को समझने की प्रेरणा मिली। कई लोगों को पढने के बाद लगा कि गांधी जी व अन्य लोगो में एक बुनियादी फर्क है। वह फर्क देशज समाज, भावना व आयातित विचार व संस्कृति से प्रभावित होने

का है और यह फर्क बहुत महत्त्वपूर्ण है। और यह बात अपने को जम गई कि हां इस बात में दम है कि हम अपने बुद्धि–विवेक से, अपने समाज के अनुभवों से ज्यादा बेहतर ढंग से आगे बढ़ सकते हैं। फिर क्यों किसी की नकल करके अलग बनने, होने के दिखावे में जिन्दगी लगायें। बाहरी चमक–दमक व आत्मविश्वास से भरी सहजता में फर्क नजर आने लगा। किसी भी तरह का दिखावटीपन व नकलीपनों से मेरा बचपन से ही अलगाव रहा। तमाम तरह की औपचारिकतायें मुझे खलती रहीं। यह सब कभी अच्छा नहीं लगा। इस सबके बीच गांधी जी का बिंदास व्यक्तित्व व अंदाज मुझे भा गया, लगा कि इस व्यक्ति में जरुर दम रहा होगा अन्यथा तमाम प्रचलित धाराओं के विरुद्ध खड़ा नहीं हुआ जा सकता। ऐसे ही दृष्टि की स्पष्टता व बिंदासपन पवन जी में लगा था।

मुझे लगा कि मैं ऐसे लोगों के बीच आ गया हूँ जिसकी मुझे तलाश थी। जो दुनिया में क्या धारा चल रही है, इसकी परवाह किये बिना सक्षम आत्मविश्वास व आस्था के साथ आगे बढ़ रहे थे। जिन्हें ये उम्मीद थी कि प्रचलित दुनिया को बेहतर बनाया जा सकता है। एक समय तो ऐसा भी आया जब हम युवा साथी ये सोचने लगे थे कि हम लोग इस दुनिया में परिवर्तन के लिए पैदा हुए हैं। अब यह काम हमें ही करना है। यह एक तरह की अतिथी, लेकिन इसमें बदलाव की गहरी आस्था भी थी। जो अभी बनी हुई है। अति की इस पराकाष्ठा पर नहीं बल्कि एक स्वाभाविक परिवर्तन की एक इच्छा पर, जो हर मनुष्य में निहित होती हैं। हम ध्यान दें या न दें। इसी संस्थान में भुवन पाठक जी जैसे युवा साथियों से भी मुलाकात हुई जो घर परिवार छोड़कर बेहतरी की तलाश में अपने जज्बे के साथ संघर्षरत थे। उनके खुले, बेपरवाह व संघर्षशील व्यक्तित्व से ही सीखने का अवसर मिला। लगा कि जिस उम्र में लोग नौकरी, पैसा, घर–बार के बाहर सोच भी नहीं पाते उस उर्वर समय में ऐसे युवा भी हैं जो सबकुछ छोड़कर नवनिर्माण के लिए अपने जीवन को लगाये हुए हैं।

उनसे मिलकर अच्छा लगा था। संदीप, गोरखा जी जिनको हम 'गुरु जी' नाम से ही संबोधित करते हैं। उन्होंने हमेशा हमारे उत्साह को बनाये रखा, हौसला बढ़ाते रहे। मैंने कभी भी उनको निराशाजनक व नकारात्मक बात करते हुए नहीं सुना। इन सबका अनौपचारिक रूप से जीवन में एक महती योगदान रहा।

"सिद्ध" में एक बड़ी समर्पित टीम काम कर रही थी। लगातार शोधरत रहते हुए अपनी वैचारिक निष्ठा के साथ यथासंभव प्रयास करते रहना इस टीम की ताकत थी। इसी बीच उत्तराखंड में 'विमर्श अभियान' नाम से सभ्यतागत सवालों पर संवाद हेतु हम युवा साथियों ने एक यात्रा की। जिससे समाज व व्यवस्थाओं की समझ बनना शुरू हुई। इसी यात्रा के बाद 10–12 युवा सथियों ने तय किया कि इस विचार व ऊर्जा के विस्तार के लिए हम लोग कुमाऊँ क्षेत्र में जाकर काम शुरू करें। भुवन दा के मार्ग दर्शन में यह समूह कुमाऊँ आ गया पर सिद्ध की व्यापक टीम से सहयोग व सहकार बना रहा। अलग–अलग क्षेत्रों में 'जीवन शाला ' नाम से विद्यालयों की शुरुआत की। युवाओं हेतु "संजीवनी " कार्यक्रम की प्रेरणा से' प्रतिभा परिष्कार शिविर, कौसानी में शुरू किया। समाज में दीर्घकालीन व

सम–सामयिक सवालों पर व्यापक विमर्श के लिए पद यात्रायें, समाज सभाएं, युवा शिविर इत्यादि इसके समान्तर चलते रहे।

स्वावलम्बन के लिए स्थानीय उत्पादों का उत्पादन व विपणन का काम भी शुरू हुआ। सपने बड़े थे। सभी साथियों की ऊर्जा भी उसी पैमाने पर थी। पर स्वावलम्बन की यह पहल नाकाफी थी। और किसी स्थापित फंडिंग एजेंसी से ही हम लोग पैसा लेना नहीं चाहते थे। अनौपचारिक ढंग से ही काम चले इसीलिए संगठन का रजिस्ट्रेशन भी नहीं किया गया ताकि इस फंसावट से मुक्त रहा जाये। लेकिन धीरे–धीरे साथियों पर पारिवारिक दवाव बढ़ने लगा था। इस सबके बावजूद 7–8 साल हम लोगों ने साथ में विश्वास व निष्ठा के साथ आनंदपूर्वक खूब काम किया। यह समय अपने जीवन की अमूल्य निधि की तरह है। इसी समयांतराल के बीच वर्ष 2004 में 'विश्व सामाजिक मंच' में एक अनुभवी समाजवादी व्यक्तित्व विजय प्रताप जी से मिलना हुआ। यह मुलाकात कम समय की थी। लेकिन लम्बे जुड़ाव की शुरुआत थी "विश्व सामाजिक मंच" के दौरान संक्षिप्त मुलाकात में ही लगा कि जैसे वे हमसे पहले से परिचित हैं। हमारे साथी ही नहीं, किसी भी व्यक्ति के साथ, चाहे वह किसी पृष्ठभूमि व वैचारिक निष्ठा का क्यों न हो और उनसे घोर असहमतियां क्यों न रखता हो, उसके साथ भी मित्रवत उदारता अपना पाने की सहज प्रेरणा उनसे मिली। ये कोई बाहरी उदारता नहीं थी बल्कि उन्होंने अपने जीवन में जिन संघर्षों को जिया है उसका स्वाभाविक परिणाम था। मुझे लगा कि क्या गांधी कुछ–कुछ ऐसे ही नहीं रहे होंगे। तभी तो वो आम आदमी से तो घुलमिल पाये ही, पर अपने से अलग वैचारिक निष्ठा रखने वाले व्यक्ति के साथ भी उसी उदारता से संवाद कर पाए। जितना अपने किसी भी नजदीकी व्यक्ति से कर सकते थे। ताकि उनके मन की बात जान सकें और उसे वैसे ही अभिव्यक्त कर सकें। हमेशा लोगों के बीच सेतु की भूमिका निभाकर, समूहों के मानसिक–वैचारिक दायरों की सीमा समझते हुए, उनको जन जनचेतना के व्यापक मुहिम से जोड़ने का प्रयास, जिस ईमानदारी के साथ आदरणीय विजय प्रताप जी ने किया, सामान्यतः ऐसा उदाहरण दिखाई नहीं देता। मुझे उनके मार्गदर्शन में काम करने का मौका मिला। जे. एन. यू. में अध्यापन कार्य में संलग्न रहते हुए सामाजिक कार्यो में रितु प्रिया दीदी की वैचारिक स्पष्टता व स्वाभाविक आत्मविश्वास ने एक नया आयाम समझने का अवसर दिया। वैचारिक स्पष्टता की पराकाष्ठा पर जीने की स्वाभाविकता का मिश्रण क्या मानव जाति की नई संस्कृति बन सकता है। ऐसी आस्था उनको देखकर जगी। मैं लम्बे समय से हरित स्वराज के मार्फत सेडेड की प्रक्रिया से जुड़ा रहा हूँ। एक समय में मुझे जब ये लगने लगा था कि मेरे सभी साथी तो लगभग, अलग–अलग कामों में अपने पारिवारिक जीवन में व्यस्त हो गयें हैं। अब मुझे क्या करना चाहिए? कहीं नौकरी वगैरह के बारे में मैं तब भी नहीं सोच पता था लेकिन ये स्थिति जरुर थी कि पहले एक टीम थी। अब वे लोग अपनी आवश्यक व्यवस्थायों की पूर्ति में व्यस्त हो गए। मुझे भी अब कोई नई दिशा लेनी होगी लेकिन विजय जी के सहयोग व भुवन भाई का प्रोत्साहन मिला। वैचारिक व कार्यरत रहते हुए कुछ ऐसा भी हुआ कि उनमें कुछ निराश करने वाले तत्व भी जरूर थे। पर एक व्यापक भावना ने इन तथ्यों का प्रभाव अन्तस पर गहरा नहीं पड़ने दिया।

सेडेड व विजय जी के सहयोग से मैंने फिर निश्चय किया कि जिस काम में हूं उससे हटूंगा नहीं और इस क्रम में टीम की तलाश में अपने पूर्व परिचित साथियों द्वारा संचालित वैकल्पिक शिक्षण केन्द्र 'सृजन निकेतन', गुप्तकाशी (रुद्रप्रयाग) आ गया। अपनी आस्था के इस काम में यथासंभव सहयोग करने लगा।

लंबे समय बाद, 2016 के आखिरी महीने में 'सिद्ध' जाना हुआ। यह सिद्ध मित्र मिलन था। अधिकांश साथी अपनी व्यस्तताओं के बावजूद आए हुए थे। बातचीत में यह भी सुनने को मिला कि यहां की एक–एक चीज हमने बनाई है इत्यादि। मैंने सोचा यहां की एक–एक चीज पर जिसका अधिकार है उसका अपने पर भी अधिकार है क्या? सिद्ध एक भावना थी, एक विचार था। एक भावना है, एक विचार है। सारे परिवर्तन की दिशा में किए जाने वाले काम एक भावना, विचार से शुरू होते हैं, फलते–फूलते हैं। उनका पतन भी एक भावना–विचार के अभाव में होता है। एक अभियान के तौर पर सिद्ध था और है। ईंट–पत्थर, बिल्डिंग न कभी सिद्ध था, न ही ये उसका लक्ष्य था। ये तो बदली जा सकती है। पर भावनाएं कैसे बदलेंगे क्योंकि भावना बदलती है तो दुर्भावना आ जाती है। विचार खत्म होता है तो निविर्चार की स्थिति नहीं होती बल्कि दृष्टि विहीनता पैदा होती है। तब व्यवस्था हमें नचाती है, जैसे चाहे वैसे। मुझे लगा कि मैं कठपुतली नहीं हूं, मेरी डोर अपने हाथ में है। जब तक सिद्ध से उपजी दृष्टि व भावना अपने हृदय में लिए कोई भी व्यक्ति है तब तक सिद्ध है और रहेगा। एक संस्थान के तौर पर, ढांचे तो अस्थाई हुआ करते हैं।

अनुराधा दीदी के आदेश व स्वयं की भावना के वश होकर मुझे नहीं पता कि मैं क्या–क्या लिख गया। जीवन की एक शुरूआत घर से हुई थी। उसमें सिद्ध आने के बाद अन्य आयाम जुड़ते गए। मुझे नहीं मालूम जिन्दगी की उस अनिश्चितता के गर्भ में अभी क्या–क्या होना है। अज्ञात की झोली से क्या–क्या निकलना है? बस इस अनिश्चितता में सहयोगी बने साथियों, प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से योगदान कर रही ऊर्जाओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। बस सफर का आनंद अज्ञात में ही है, यह भावना घर कर गई है। पिछली बार अनुराधा दीदी द्वारा कही बात याद आ रही है कि शुरूआत शुभ है तो अंत बुरा नहीं हो सकता। अंत भी शुभ ही होगा, यह विश्वास व आस्था ताकत देती है। यह विश्वास व आस्था हम सबको आत्मबल प्रदान करे। इसी शुभाकांक्षा के साथ।

# लेखक का परिचय

- नाम – गोपाल राम, ग्राम व पोस्ट – काण्डे, जिला – पिथौरागढ़ (उत्तराखण्ड)
- 1999 से 2001 –गांधीवादी शैक्षणिक संस्थान 'सिद्ध' मसूरी में अध्ययन व ग्रामीण विद्यालय में अध्यापन कार्य।
- 2001–2002 – समाज के विभिन्न तबकों के साथ शिक्षा, स्वास्थ्य, विकास, लोकतंत्र के सवाल पर 'विमर्श' अभियान के माध्यम से उत्तराखण्ड भर में चली संवाद यात्रा में भागीदारी।
- 2002–2006 – 'प्रतिभा परिष्कार शिविर' के माध्यम से युवाओं के साथ एकवर्षीय सृजनात्मक कार्यकर्ता निर्माण शिविरों का संचालन।
- 2005 में 'पानी पंचायत' के माध्यम से नदियों–बांधों के सवाल पर पंचेश्वर (चंपावत) से लेकर फलिण्डा (टिहरी गढ़वाल) तक चली पदयात्रा में भागीदारी।
- 2006 से 2012 तक – 'पारिस्थितिकीय लोकतंत्र पर दक्षिण एशियाई संवाद' के साथ मिलकर, हिमालय स्वराज अभियान के माध्यम से सामाजिक समता व पारिस्थितिकीय लोकतंत्र के सवाल पर उत्तराखण्ड भर में समता संवाद, लोकतंत्र संवाद व युवा संवाद कार्यक्रमों का संचालन।
- 2012 से अब तक – वैकल्पिक शिक्षा हेतु रुद्रप्रयाग जिले के खुमेरा गांव में चल रहे शिक्षण केन्द्र 'सृजन निकेतन' के शिक्षण कार्यक्रम में भागीदारी व सेडेड के माध्यम से पारिस्थितिकीय लोकतंत्र पर युवा संवादों की पहल के साथ कार्यरत।

# पुस्तिका परिचय

उड़ीसा चक्रवात से 1999 में हुई तबाही के बाद अपनी संवेदनशीलता को बनाए रखने हेतु मैं और मेरे एक मित्र उस इलाके में घूम रहा थे। वहाँ मैंने अपने मित्र को एक मानव अधिकार आंदोलन के नेता से मिलवाया और दलित समाज की पृष्ठभूमि के बौद्धिक के रूप में उनका परिचय दिया। मेरे इस परिचय से वह नाराज़ हुए। बोले आदरणीय किशन पटनायक के बारे में तो आपने यह नहीं कहा कि वह कायस्थ पृष्ठभूमि के चिंतक हैं, तो फिर मेरी दलित पृष्ठभूमि का परिचय क्यों दिया? ठीक इसी प्रकार सेडेड कार्यालय में एक साथी मनोज प्रसाद थे जो कि अपनी दलित पहचान को बताना ठीक नहीं मानते थे। इन दोनों को मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ इसलिए यह कह सकता हूँ कि यह "छिपाव" किसी हीन–भाव के कारण न था। यह एक सहज आत्मसम्मान और आत्मगौरव के कारण था जिसके चलते वह अपने को जाति के घेरे में नहीं देखते हैं। उपरोक्त दोनों साथियों की भांति ही ऐसे असंख्य लोग हैं, जो अपनी विशिष्ठ दलित पहचान के नाते बेचारगी के भाव में नहीं जीते और कुछ तो उस कारण कानूनन मिलने वाले आरक्षण का लाभ भी नहीं लेते। हालाँकि व्यापक सामाजिक स्तर पर वह आरक्षण को फिलहाल ज़रूरी मानते हैं, लेकिन खुद या परिवार के लिए इन कानूनी प्रावधानों से कोई लाभ नहीं उठाना चाहते। मैं, जब यह पंक्तियाँ लिख रहा हूँ तो मेरे सामने एक ऐसे समाजवादी चिंतक का चित्र उभर कर आ रहा है, जिन्होंने खुद तो नौकरी आदि के लिए कानूनी प्रावधानों का प्रयोग नहीं किया, साथ ही उनकी बिटिया का भी कहना है कि मेरे द्वारा आरक्षण का लाभ लेने से मेरे से ज्यादा कठिन परिस्थिति वाले किसी व्यक्ति का नंबर कट जायेगा।

इन उदाहरणों से मैं एक मोटी सी बात कहना चाहता हूँ, कि अब दलित समाज में इतना आत्मविश्वास और गौरव का भाव है कि वह जाति प्रथा के कारण पीडित, प्रताडित और शोषित की आत्म छवि से बाहर आकर व्यापक समाज के साथ कंधे से कंधा मिलाकर सपने देखने और उनको मूर्त रूप देने के लिए प्रयासरत् है। लेकिन एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या गैर–दलित समाज ने दलितों की आज से 70–80 बरस पहले की स्थिति एवं उससे उबरने के लिए हुए संघर्षों के बारे में कोई जानकारी हासिल की है, उनके मुक्ति संघर्षों की सामूहिक स्मृति का हिस्सा बने हैं? या उनके भविष्य के सपनों को कभी साझा किया है? हमारा आकलन है कि सामाजिक समता के व्यवहार की बात को बहुत दूर की बात है, अभी तो समता को एक सामाजिक मूल्य के बतौर भी हम सभी ने स्वीकार नहीं किया है। राष्ट्रीय आंदोलन, संविधान और वोट राज के बावजूद हिंदुओं के एक महत्वपूर्ण संगठन ने ब्राह्मणवाद के वर्चस्व को फिर से कायम करने का सपना छोड़ा नहीं है। किसी संगठन के तंत्र पर निर्णायक कब्जा ब्राह्मणों की भी एक छोटी सी उपजाति का हो ऐसा केवल ऐतिहासिक संयोग से संभव नहीं है। इसके लिए मनुस्मृति की जातिवादी व्याख्या जरूरी है इसलिए आज बिना किसी गाँधी के ही उच्च जाति वाले हिंदुओं को जाति प्रथा थोपने के पाप के प्रायश्चित की कार्ययोजना बनानी होगी। साथ ही जन्मना संयोग से दलित पृष्ठभूमि वाले समुदायों को बाबा साहब बिना ही उनके दिखाये रास्ते के हिसाब से संगठित होना होगा। सामाजिक समता को लेकर तथाकथित उच्च एवम् दलित जातियाँ मिलकर शोषण विहीन समाज के बारे में विमर्श करें, नई पीढ़ी के लिए दिशासूचक पगडंडियों का निर्माण करें – यह समय की पुकार है। इसमें हमारी ओर से एक विनम्र आहुति के बतौर गोपाल राम के आलेख प्रस्तुत हैं। आशा है आपनी बेबाक टिप्पणी हमारे ई–मेल पर लिख भेजेंगे।

विजय प्रताप
संस्थापक संयोजक, दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद

'हरित स्वराज' का विचार मनुष्य से प्रकृति के रिश्ते को समाज के राजनैतिक, सामाजिक, साँस्कृतिक पक्षों के लोकतान्त्रिक आधार से जोड़ता है। 'दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद' (सैडेड) विभिन्न वैचारिक प्रवाहों को संजो कर उनके बीच संवाद को प्रोत्साहित करता है ताकि 'हरित स्वराज' के बहुआयामी विचार की गहराई तक पहुँचा जाए। दक्षिण एशिया के संदर्भ में 'हरित स्वराज संवाद' ऐसे व्यापक प्रवाहों का हिस्सा है जो स्थानीय समुदायों से लेकर देश व दुनिया के स्तर पर मनुष्य जीवन के लोकतान्त्रीकरण के लिए प्रयासरत् हैं। यह प्रकल्प सेन्टर फॉर द स्टडी ऑफ डवेलपिंग सोसाइटीज़, लोकायन, केपा व सिएमेनपू फाऊन्डेंशन (फिनलैण्ड) की साझी सृजनात्मक पहल के बतौर शुरू हुआ था।

'दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद' एक चौपाल है। इसके द्वारा प्रकाशित पुस्तकें लेखक के विचार प्रस्तुत करती हैं ताकि समाज में चल रहे संवादों की झलक मिले। संवाद की इस प्रक्रिया को बढ़ावा देने के लिए पाठकों से गुज़ारिश है कि वह इसमें भागीदार बनें व अपने विचार हमें लिख भेजें।

दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद
South Asian Dialogues on Ecological Democracy (SADED)
www.saded.in

ISBN
978-93-81144-62-6